राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा
'कन्हैयालाल सहल पुरस्कार' से पुरस्कृत

संस्कृति के स्वर

संस्कृति के स्वर

मोहनलाल गुप्त

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

ISBN 81-7056—050-0

प्रकाशक : पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, जयपुर—302003

संस्करण : प्रथम, 1989

मूल्य : अस्सी रुपये

मुद्रक : शीतल प्रिंटर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर—302003

Sanskriti Ko Swar
By : Mohanlal Gupta

Price
Rs. 80

आमुख

मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र मे जो सृजन करता है उसको संस्कृति कहते हैं। संस्कृति का अर्थ है संशोधन कर उत्तम बनाना। संस्कृति का सम्बन्ध किसी भी व्यक्ति या जाति के बौद्धिक तथा मानसिक विकास से माना जाता है। इस विकास के साथ ही सौंदर्य बोध वृत्ति जाग्रत होती है और मानव अपने जीवन को सौंदर्य के विविध रूपों से सजाने संवारने का प्रयत्न करता है। इस प्रवृत्ति को ही संस्कृति का नाम दिया गया है। उसके समस्त क्रिया कलापों कल्पनाओं और भावनाओं को उत्कर्ष तक ले जाने का माध्यम संस्कृति है। फूलों के रूप, गंध पर ऊषा और संध्या के रंगों पर मुग्ध हो कर उनकी प्रशंसा में कितनी ही उद्भावनायें मनुष्य ने की हैं। वीणा वादन, ताम्बूल सेवन, गोष्ठी, सभा तथा नाट्य के विविध मनोरञ्जनों से संस्कृति अलंकृत होती रहती है। आनन्द का पदार्थीकरण करने के लिये मिट्टी, पत्थर, धातु, काष्ठ सभी प्रकार के जड़ पदार्थों को रमणीय और शोभनीय बनाने के लिये मनुष्य ने अथक प्रयत्न किये हैं। इस ही पुरुषार्थ से संस्कृति के अनेक स्वर निकले हैं।

संस्कृति पर साहित्य मनीषियों ने बहुत कुछ लिखा है उस ही का पिष्ट पेषण करना उस पर कुछ लिखा जाना सागर में एक कंकड़ी फेंक देने जैसा विफल प्रयास होता इस हेतु संस्कृति के समग्र रूप पर न लिख कर संस्कृति के स्वरों के माध्यम से, जिनमे कला भी एक स्वर है, को प्रवाहित करने का प्रयास मैंने किया है। जिस प्रकार अलग-अलग स्वर मिल कर एक राग की उत्पत्ति कर देते हैं उस ही प्रकार कला के विभिन्न आयाम भी संयुक्त रूप से संस्कृति का निर्माण करते हैं। संस्कृति की अभिव्यक्ति साहित्य धर्म, कला, संगीत, नाट्य, विज्ञान तथा भाषा किसी भी माध्यम से हो सकती है।

कला सौंदर्य की द्योतक है और सौंदर्य में लावण्य, शोभा कांति [illegible] [illegible] संस्कृत के समस्त कवियों ने नारी के सौंदर्य शृंगार और भ्रू विलास आदि का [illegible] रूप से वर्णन किया है। कवि कालिदास ने "केश संस्कार धूपैः" [illegible] विन्यास का सुमधुर वर्णन किया है तथा महावर रचे, नूपुरों की झंकार करते हुए चरणों की व्याख्या जयदेव ने की है। पुरुष अन्तर्जगत की [illegible] नारी के रूप में प्रकाशित करने का इच्छुक होता है। मैं भी इस लोभ का संवरण नहीं कर सका। अतएव सर्व प्रथम नारी के विविध रूपों का चित्र [illegible] के माध्यम से [illegible]

करना तत्पश्चात् युग युगों में नारी सज्जा, मेंहदी महावर, केश विन्यास, मदिरा आदि उपकरणों का, जो सौंदर्यवर्द्धक भावनाओं को बल देते हैं और साथ ही संस्कृति के स्वरूप विस्तार में योग देते हैं, उल्लेख करना उचित समझा है।

राजस्थान संस्कृति के क्षेत्र में कला के माध्यम से अपना सर्वोपरि स्थान रखता है। यहा के पुरातात्विक अवशेष, मृदपात्र, शिल्प, देवल, छतरियां अपने अतीत की गौरव गाथा स्वयं गाते हैं और विदित होता है कि किन-किन विदेशी प्रभावों से हमारे यहां सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ है। शक, हूण, कुषाण, ईरानी, यूनानी विदेशी संस्कृतियां इस देश में शक्ति स्थापना के साथ फैली और किस प्रकार हमने उन्हे आत्मसात् कर लिया। हमारे रहन-सहन, वेशभूषा, सामाजिक जीवन, धर्म साहित्य पर बाहरी संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा जो प्राचीन चित्रों, भित्ति चित्रों उनकी विभिन्न शैलियों द्वारा ज्ञात हो जाता है। चित्रों की प्रतिकृतियां, पिछवाई कला, हाथीदांत की कला आधुनिक कला प्रकरणों द्वारा विदित होता है किस प्रकार पुरानी कलायें फिर से उभरी है—नवीन मोड़ आये हैं। प्राचीन शस्त्रों के माध्यम से भी हम संस्कृति के एक विशिष्ट युग से गुजरे हैं जब हजारों वर्षों तक उनका उपयोग मनुष्य के लिये अनिवार्य हो गया था—उनको घरों में सजाया जाता था यहां तक कि उनकी पूजा होती थी। यही तथ्य पगड़ियों के लिये भी लागू होता है। उनके विविध बन्धेज, रंग साजी, अनेकों जातियों द्वारा उनके प्रयोग हमारी संस्कृति के प्रतीक हैं। उनके साथ अनेकों प्रतिष्ठा और शौर्य सम्बन्धी घटनायें जुड़ी हुई हैं।

हस्तकलायें अनेक प्रकार की राजस्थान में प्रचलित हैं जो प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से हमारी संस्कृति से सम्बन्धित है। उनके माध्यम से अनेक जातियो का पूर्व काल में निर्माण हुआ। वर्तमान मे उद्योग धन्धों से जुड़े हुये जाति बंधन टूट गये हैं उनके रहन-सहन के स्तर, वेशभूषा सब परिवर्त्तित हो गये हैं इसलिये भारी सांस्कृतिक परिवर्त्तन हुआ है। यही कारण है हस्तकलाओं को भी संस्कृति का एक अङ्ग मानकर उनका विवेचन किया गया है। संगीत तो संस्कृति का एक विशिष्ट अंग रहा ही है।

पुरातन के विविध आयामो के उल्लेख से विदित हो जाता है कि आज उन्नति के जिस शिखर पर हम बैठे हैं उसके लिये किन-किन स्तरों से गुजरना पड़ा है यही सम्पूर्ण यात्रा कला के माध्यम से पुस्तक में वर्णित की गई है। यद्यपि पुस्तक की रचना प्रबन्ध रूप से नहीं हुई है और प्रत्येक अध्याय अपने से पृथक् है परन्तु उन सबको संगीत के स्वरो के समान एक शृंखला में सजोने का प्रयत्न मैंने किया है।

मेरे तीस वर्ष तक पुरातत्व संग्रहालय विभाग में सेवारत होने का अनुभव मुझे पूर्व में जयपुर मेरे, निवास स्थान, के सांस्कृतिक वैभव "गुलाबी नगर की गुलाबी यादें" पर लिखने को विवश कर गया अब "संस्कृति के स्वर" कला के सप्तक पर प्रवाहित करने को मेरी इच्छा बलवती हुई।

—मोहनलाल गुप्त

अनुक्रम

नारी के विविध रूप

मूर्ति कला में नारी

नारी के मोहक रूप को चित्रकला मे अंकित करने की कल्पना आदि मानव को पहले आई परन्तु मूर्तिकला में उतारने का विचार उसके बहुत सभ्य होने के पश्चात्। चित्र में अंकित करना रेखाओं के द्वारा सहज है परन्तु मूर्तिकला में रूप को आरोपित करना कठिन है। वह तब ही संभव हो सका है जब मनुष्य ने भोजन, आवास, परिधान के सब साधन जुटा लिये। उसे सृष्टि की महत्ता और उसके साथ नारी के प्रकृति माया और मातृ स्वरूप का वृहद् ज्ञान प्राप्त हुआ।

शिल्प में सबसे पहले मानव ने नारी के मातृ रूप को संजोया है जो सिन्धु सभ्यता की मृण्मूर्तियों में मिलता है। लोथल और कालीबंगा मे भी नारी रूप अत्यल्प मात्रा में देखने को प्राप्त होता है। मृण्मूर्तियों में नारी का मातृ रूप संजोना महत्वपूर्ण था इसलिये देखते हैं कि शिल्प का प्रारम्भिक रूप मृण्मूर्तियों में ही मिलता है। सिन्धु सभ्यता वाली मातृकाओं के सिर पर दोनो तरफ या एक तरफ धूपदान बने होते हैं जो मातृका पूजा हेतु ही होते थे। आंख-नाक कान वक्ष आभूषण-चोटी सब कुछ मिट्टी को कोर कर बनाने के बजाय ऊपर से चिपका कर बनाते थे और लोक कला या मानव के शिल्प के प्रयास के लक्षण उनमें प्रचुर मात्रा में पाये जाये हैं।

सिन्धु सभ्यता की संसार प्रसिद्ध नारी का नर्तकी रूप कांस्य प्रतिमा में मिला है जो राष्ट्रीय अग्रहालय दिल्ली के संग्रह में है। उसमें सुमेरियन या अफ्रीकन लक्षण चपटी नाक, मोटे होंठ, छोटा वक्ष पाये जाते हैं परन्तु विशेष बात देखने योग्य यह है कि राजस्थान के उत्तर पश्चिमी प्रदेश मे आज भी स्त्रियां पांच हजार वर्ष पूर्व के समान ही कलाई से बाजू तक चूड़े पहनती हैं।

सिन्धु सभ्यता में नारी सोने के आभूषण हार, कर्णफूल पहनती थीं जिनमें दोलडी, चौलडी या अर्द्ध मूल्यवान पत्थरों के मनकों की मालायें भी होती थी, जूड़ा बनाती थी, दो चोटियां बनाती थी, घुटनों से ऊपर तक अधोवस्त्र

पहनती थी, वक्ष संभवतः खुला रहता था। पटना संग्रहालय की दीदारगंज की यक्षी का भारी वक्ष पेट का गदरायापन मौर्यकाल के नारी सौन्दर्य पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। चमकदार पालिश भी उस युग के शिल्प की विशेषता है।

शुंग युग में नारी शिर पर चोटियों के भारी अलंकरण, कानों में चौकोर या गोल गण्डेदार कर्णवेष्ठन, गले में फलकहार, हाथों में भारी वलय, क्षीण कटि पर मोटे मणियों की कर्धनी एवं पांवो मे भी मोटे कड़े पहनती थी। खुला वक्ष, जंघाओं पर आवेष्टित पारदर्शक अधोवस्त्र नारी के सौन्दर्य के प्रतीक होते थे। कभी-कभी वक्ष पर पट्टिका भी दिखाई देती है। पगड़ी धारी "सूक्ष्म नारी धड" रेंढ (जयपुर संग्रहालय) भी इस बात का द्योतक है कि नारियां चोटी को पगड़ी की तरह शिर पर लपेटने के अतिरिक्त वास्तव में पगड़ी भी पहनती थीं। राजस्थान मे रेंढ से टेराकोटा प्राप्त हुये हैं जिनमें मातृकाओं का बाहुल्य है। नारी के शिर के दोनों ओर अनेक चोटियां वृक्ष की शाखाओ के समान लटकी मिली हैं। एक अन्य नारी शिर पर भारी बोरला एवं कानों में बड़े आकार के कुण्डल प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार एक अन्य नारी आकृति में चोटियां लटकने के बजाय शिर के दोनों ओर शाखाओं के समान ही खड़ी देखने को मिलती हैं। एक दम्पति टैराकोटा में घाघरा देखने को मिलता है जिसके ऊपर होकर भारी मोटी कर्धनी लटक रही है। ऐसे ही एक और दम्पति में नारी के शिर पर घुंघराले बालों के छल्ले उत्कीर्ण हैं, इससे अनुमान होता है बालों को नाना प्रकार से संवारने का शुंग युग में रिवाज था। नोह उत्खनन से मुक्तालोभी हंस दृश्य मृदफलक पर प्राप्त हुआ है जिसमें सद्यस्नाता के बालों से पानी की बूंदें टपक रही हैं जिन्हें हंस मोती समझकर चोच में ले रहा है।

सिकन्दर के आक्रमण के कारण ग्रीक संस्कृति और कला का प्रभाव हमारे देश में पड़ा और बौद्ध धर्म संबंधी शिल्प का निर्माण सिन्धु घाटी के उत्तर पश्चिमी भाग में प्रथम शती से प्रारंभ हुआ जिसे गान्धार कला के नाम से बोला जाता है। ग्रीस, रोम, पार्थिया के मिश्रित प्रभाव से गान्धार कला का उद्भव हुआ जिसमें हेलन का नारी सौन्दर्य ही उसका आधार है। अर्ध निमीलित नेत्र, पतले होंठ, अण्डाकार चेहरा, उभरी हुई पलकें, लम्बे कान, घुंघराले बाल, सीधी नासिका गान्धार कला के नारी लक्षण होते है। माथे के घुंघराले बालों पर चोटी ताज की तरह गूंथी हुई होती है। बिना सिला हुआ कपड़ा कंधों पर गांठ लगाकर बांधा हुआ तथा कमर पर भी कमर बंध की तरह बांधा हुआ दिखाई देता है। आजकल भी स्त्रियों ने इसी फैशन के कपड़ों का अनुकरण किया है।

राजस्थान में रंगमहल पीर सुल्तान बड़ोपल स्थानों से प्राप्त मृण मूर्तियों मे गान्धार लक्षण उपलब्ध होते हैं। मुण्डा से अनेक नारी मस्तक प्राप्त हुये हैं

जिनमें बालों की सजावट और चेहरे की मुस्कान अति सुन्दर है। बीकानेर संग्रहालय से प्राप्त पीर सुल्तान की थेरी की शिर विहीन भग्न नारी प्रतिमा का वस्त्र नितांत गांधार शैली का है जो ढीला होकर पांवों में लटक रहा है। बीकानेर से ही बडोपल दम्पत्ति, नृत्य मुद्रा मे नारी, शीशा लिये नारी गान्धार लक्षण से ओतप्रोत है। एक और विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य प्राप्त होता है दम्पत्ति में नारी ने जो आभूषण कठला, हंसली और कंचुकी पहन रखी है वह बिल्कुल आज की बनजारी स्त्रियों के अनुरूप ही है। परन्तु एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान जाता है कि दानलीला टेराकोटा (बीकानेर) संग्रहालय में गोपी ने ओढनी और घाघरा कन्चुलिका की पोषाक पहन रखी है जो राजस्थान में आज भी प्रचलित है। अतः घाघरे व ओढनी का रिवाज मध्य युग से पर्याप्त पूर्व हो चुका था। मृदभाण्डों के दस्तों पर भी जो नारी आकृतियां मिलती हैं उनमें रोमन लक्षण दिखाई देते हैं नारी का अकन शाल भंजिका, यक्षी एवं मातृका, मथुरा शैली के प्रभाव के रूप में, प्रस्तुत है। ऐसी सुराही के दस्ते सांभर व नगर के मृद्भाण्डों में प्राप्त हुये हैं।

यक्षियों के शरीर स्थूल, चेहरे गोल, वक्ष, नितम्ब व जंघायें प्रथुल और कमर क्षीण होती है। गुप्तांग पर पारदर्शक वस्त्र व उसके ऊपर चौड़ी करधनी देखने को मिलती है। माथे में बीच की बालों की पट्टी पीछे को ओर दोनों तरफ दायें-बायें बाल काढे हुये होते हैं। चेहरा गोल, कानों में भारी कुडल, कलाई, बाजू और पांवों में मोटे कड़े होते हैं। बांई ओर करधनी से जघा पर एक तरफ कपड़ा समेट कर लटका होता है। इस युग की प्रतिमाओं को देखने से पता चलता है कि जीवन बहुत विकास पूर्ण था। आमोद-प्रमोदपूर्ण जीवन की झांकी सांभर के एक मृद फलक द्वारा भी झलकती है जिसमें राजा दो स्त्रियो के बीच खड़ा है। ऐसे फलक संभवतः शयन कक्ष में टांग कर प्रयोग में लाये जाते थे।

गुप्तकाल मे साहित्य संगीत और कला अपने चरमोत्कर्ष पर थी। कालिदास के उच्च कोटि के साहित्यिक वर्णन को, जिसमें नायिकाओं की विभिन्न चेष्टाओं का विवेचन है, शिल्पियों ने कला में उतारा। यही कारण है गुप्त युग की मूर्तियों में नारी का कमनीय और मोहक रूप सामने आया है। गुप्त राजाओं ने कोशाम्बी, अहिछत्रा, मथुरा के मन्दिरों मे जिस शिल्प का निर्माण करवाया वह विशेषतः नारी सौन्दर्य के लिये प्रख्यात है। महान् विद्वान् वराह मिहिर ने कहा था ब्रह्मा ने स्त्री के सिवा ऐसा दूसरा बहुमूल्य रत्न संसार में नहीं बनाया जो श्रुव, दृष्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आल्हाद उत्पन्न कर सके। स्त्री के कारण ही घर में अर्थ है, धर्म है, संतान सुख है। जो लोग वैराग्य का भान करके स्त्री की निंदा किया करते हैं वे लोग दुर्जन हैं। शक्ति संगम तंत्र के तारा खंड में शिव ने कहा है नारी ही त्रैलोक्य

की माता है, त्रिभुवन की आधार है, नारी के समान न सुख है, न भाग्य है, न राज्य है, न तप है, न तीर्थ है, न योग है। वह संसार की सर्वाधिक पूजनीय देवी है। इस ही कारण गुप्तों के स्वर्ण युग में समाज के सुसंस्कृत उच्च स्तरीय विलासपूर्ण जीवन को प्रतिमाओं में स्थान दिया गया है। शिल्पियों ने नारी के जिन विभिन्न रूपों का निर्माण किया उनमें वह सुर सुन्दरी, कल्पवल्ली, ताम्बूल वाहिनी, वीणा धारिणी, विलोल भुजगामिनी, संक्षिप्त पाद पद्मा, शुक्र धारिणी, पीन स्तनी, व्यालोल कुण्डला, छत्र धारिणी, मृणालिनी आदि दिखाई देती है। मंदिरों के स्तम्भो के विभिन्न भाग, तल, दंड, उर्ध्वशीर्ष आदि गंगा, यमुना, लक्ष्मी, भवानी, गौरी, महिषासुरमर्दिनी तथा सप्त मातृकाओं की प्रतिमाओं से सुसज्जित होते थे। भूमरा, नचना, देवगढ़, भीतर गांव के मंदिर गुप्त शिल्प के लिये संसार विख्यात हैं। कुर्किहार, अकोटा की कांस्य प्रतिमायें गुप्त युग के असाधारण नारी सौन्दर्य के लिये जानी जाती हैं। पिण्डवाडा (सिरोही) से सरस्वती की कांस्य प्रतिमा सातवीं शती का अद्वितीय प्रमाण है। गुप्त राजाओं के समय में स्वर्ण मुद्राओं पर भी लक्ष्मी, छत्रधारिणी, मयूर प्रिया का अंकन मिलता है। गुप्त युगीन चित्रकला और शिल्प कला का संयोजन, लावण्य सौन्दर्य एक-सा ही दिखाई देता है। मिट्टी के खिलौनों में भी गुप्त युग में सौन्दर्य पराकाष्ठा पर देखने को मिलता है। गुप्त युग में शिर पर छल्लेदार स्कन्धों तक झूलते बाल, नाना प्रकार के जूड़े, मकरीकिरीट के अलंकरण, गोल चेहरा, मोटे होठ, भारी वक्ष, प्रलम्ब नेत्र विभिन्न लालित्यपूर्ण भंगिमायें एवं हस्तपाद मुद्रायें, एकावलि, मेखला, पारदर्शी अधोवस्त्र स्त्री शिल्प की विशेषतायें हैं। आकृतियो और मुद्राओ में प्रारम्भिक कुषाण कालीन लक्षण दिखाई देते हैं परन्तु एलोरा की देवी में गुप्त युगीन सम्पूर्ण लक्षण देखने को मिलते है। अजन्ता गुफा की मकरासीन गंगा भी पूर्ण गुप्त युगीन विशेषताओं से ओतप्रोत है। उड़ते विद्याधर ग्वालियर (राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली) मे नारी का भारी जूडा, पारदर्शक उड़ता हुआ उत्तरीय व अधोवस्त्र की कारीगरी देखने युक्त है। राजस्थान में मण्डोर (जोधपुर संग्रहालय) के कृष्ण लीला फलक में यशोदा का दही बिलोने का दृश्य उपलब्ध होता है जो गुप्त कालीन है। नगरी (चित्तौड) के तोरण स्तम्भो पर भी नारी अंकन पाया जाता है। तनेसर और जगत की मातृका की मुस्कान, केश विन्यास, स्कन्धो पर झूलता उत्तरीय, भारी कुण्डल, शीशफूल व गदराया हुआ शरीर गुप्तोतर युग के नारी सौन्दर्य के सुन्दर दृष्टान्त है। जगत् से ऐन्द्री, अम्बिका, मातृका में भी जघन भाग विशेष चौड़ा एवं भारी दिखाई देता है। आमझारा से कौमारी, ब्राह्मी एवं वैष्णवी की नारी प्रतिमायें गुप्तोत्तर युग की विशेषताओ से ओतप्रोत है। उनके चेहरे भारी और शरीर रचना भीलो के समान है जो आज भी देखने को मिलती है। तनेसर से स्कन्दमाता का रूप भी अति सौन्दर्यपूर्ण है। मण्डोर में ही चट्टान मे उत्कीर्ण मातृका भी गुप्तोतर युग की देन है।

पूर्व मध्यकाल और मध्यकाल में भी उत्तरी भारत में चन्देल, गुर्जर, प्रतिहार और सोलंकी राजाओं के समय में कला में नारी का अंकन प्रचुरता से हुआ।

गुप्तकाल के लक्षण पूर्व मध्यकाल के शिल्प से बहुत कुछ देखने को मिलते हैं, सिर्फ अन्तर इतना है कि कारीगरी और सजावट की ओर शिल्पी का ध्यान जाने लगा। ग्वालियर का स्त्री धड़ (राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली) मुक्ताजाल और पारदर्शी वेशभूषा से सुसज्जित है जो पूर्व मध्ययुग के सुन्दर दृष्टान्तो में से है। प्रतिहारों ने ओसियां आबानेरी राजोरगढ़ में जिस शिल्प का निर्माण करवाया वह गुप्त काल से किसी भी तरह कम नहीं कहा जा सकता।

आबानेरी एवं नीमाज के शिल्प में नारी के बालों में विविधतायें देखने को मिलती हैं। कहा नहीं जा सकता उस युग में विग लगाने की प्रथा के कारण बालों में इतनी सजावट संभव थी ? आबानेरी से शृंगार दुर्गा, गज लक्ष्मी, पार्वती अति सुन्दर प्रतिमायें हैं। चामर धारिणी के शिर पर पगड़ीनुमा अलंकरण कर्णफूल, स्कन्धों पर होकर बाहो में लिपट कर झूलता वस्त्र, कटि में आवेष्ठित आभूषण एकावलि बगल मे स्तम्भ पर उत्कीर्ण घट पल्लव, कमल फुल्ल आबानेरी शिल्प सौन्दर्य के विशेष तत्व हैं।

ओसियां के गंगा यमुना के गोल चेहरे बालों की वही अनुपम सजावट खड़े रहने की भगिमा को देखकर इन प्रतिमाओं को कोई भी गुप्तकालीन कहे बिना नहीं रह सकता।

हर्षनाथ सीकर-सांभर-बघेरा के नारी सौन्दर्य में (दसवी शती) देह लम्बी, चेहरा तिकोना, होंठ पतले, ठुड्डी एवं नासिका खूब तीखी, अंगुलियां पतली आभूषणों की अधिक सजावट देखने को मिलती है। जैन शैली का लाक्षणिक प्रभाव इनमें देखने को मिलता है जो बाद में चित्रों में भी पाया जाता है।

इस ही समय शैवों की तान्त्रिक क्रियाओं एवं वज्रयान सम्प्रदाय की युगनद्ध उपासना की आस्था के कारण उड़ीसा, बगाल, बुन्देलखण्ड, राजस्थान और दक्षिण में चारों ओर देव मन्दिरों के बाहर काम कला एवं नारी के विलासपूर्ण अंकन की प्रवृत्ति का उद्‌भव हुआ। खजुराहो के शैव और वैष्णव मंदिर चन्देल राजाओं ने बनवाये जो उच्च कोटि के काम कला सबंधी प्रतिमाओं के लिये ससार विख्यात हैं।

शृंगार रता षोडषी, शिशु क्रीडा मातृका, कन्दुक क्रीड़ा करती रमणी, अलस कन्या, पत्र लेखा, नाग कन्या, कांटा निकालती स्त्री, अप्सरा, वीणा धारिणी, शुक धारणी काजल लगाती नायिका, गाढ़ालिंगन युक्त प्रेमिका एवं काम क्रीड़ा में प्रयुक्त न.ना

ललनायें कंडरिया महादेव जगदम्बा एवं लक्षमण मन्दिर पर उत्कीर्ण हैं जो दर्शक को विमुग्ध किये बिना नही रह सकतीं। भुवनेश्वर की अलस कन्या, कांटा निकालती रमणी (लिंग राज मदिर), पत्र लेखा (इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता) अति प्रसिद्ध हैं। राजस्थान मे जगत् की अलस कन्या और किराडू से पत्र लेखा की अति सुन्दर प्रतिमायें देखने को मिलती हैं। जगत् से ही पार्वती, चामर धारिणी पल्लू से सरस्वती, राजोरगढ़ से पार्वती, बिजौलिया और मैनाल से कितनी ही सुर-सुन्दरियों की भावपूर्ण आकृतियां देखी जा सकती है। आबू के विमल और तेजपाल मदिर एवं चन्द्रावती मे भी अनेकों सुर-सुन्दरियों के अंकन पाये जाते हैं। सेवली से वस्त्र धारण करती नायिका (अलवर सग्रहालय), अ लिंगनबद्ध नायिका (सिसोदिया महल, जयपुर) पूर्व मध्य युगीन सौन्दर्य की पराकाष्ठा की द्योतक है। तेरहवी शती से शिल्प कला का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति का लोप होता दिखाई देता है। शिल्पियों ने पूर्व में निर्मित कला को ही आधार बना कर उसकी अनुकृति करने का प्रयास किया है। आकृतियो मे जकड़ापन कद छोटे भगिमाओं में जड़ता के लक्षण प्रारम्भ हो गये। आमेर से संघी झूथाराम के मदिर से प्राप्त नाना प्रकार की सुर सुन्दरियाँ संगमरमर मे प्राप्त हुई हैं जो 17वीं शती की कारीगरी की ओर इगित करती है। रणकपुर और जैसलमेर जगदीश मदिर उदयपुर के जैन मदिरो मे भी नारी के मुग्धकारी रूप सुर सुन्दरियों में देखने को मिलते हैं। विजातियों द्वारा देव मंदिरों को तोड़ कर नाश किया गया जितना वैभव पूर्ण उच्च स्तरीय नारी जीवन का प्रतिमाओं के द्वारा दिग्दर्शन होता था, काल के गर्त में समा गया। नई संस्कृति का उद्भव हुआ और मूर्ति कला मुगलों के आगमन तक समाप्ति की ओर चल पडी। अब जो कुछ मूर्तिकला के नाम पर बनता है धनोपार्जन और उद्योग की दृष्टि से, इसलिये आज की कला में सौष्ठव परिमार्जन रचना चातुर्य और अभिव्यंजना का सर्वथा लोप है।

चित्रकला में नारी

नारी को चित्रण करने को कलाकार की आकांक्षा बहुत प्राचीनकाल से रही है। नारी के नाना शृंगारिक रूप कलाकार को मुग्ध करते रहे हैं और उसकी सृजनात्मक शक्ति को बल देते रहे हैं। कला और नारी का निकट सम्बन्ध है क्योंकि कला सौंदर्य की द्योतक है और सौंदर्य में लावण्य, शोभा, कांति, कोमलता का समावेश है जो नारी मे भी पाये जाते हैं। चित्रकार के अन्तर्जगत में जिन-जिन सम्वेदनाओं का उद्गम होता है उन सबको वह नारी के रूप में प्रकाशित करने का प्रयास करता है। कला में रूप का जो स्थान है उसकी अभिव्यक्ति नारी को छोड़कर और किसी वस्तु में नही हो सकती।

जिन फैशन के उपादनों को आज हम बड़े आश्चर्य से देखते हैं वास्तव में वे सब प्राचीन काल में प्रचलित थे। उन्हीं के रूपों का नारी आज अनुकरण करती दिखाई दे रही है। आज फैशन की तरह-तरह की बातें बनाकर उपेक्षा करना हमारी प्राचीन सभ्यता की जानकारी की कमी है। इस तथ्य की पुष्टि चित्रों में अंकित नारी के विविध रूपों से होती है।

आदि काल में भी जब मनुष्य पहाड़ों की गुफाओं में रहकर पशुओं की तरह जीवनयापन करता था, उसकी कला साधना परिष्कृत थी। उस समय भी मनुष्य ने नारी का चित्रण कर गत्यात्मकता, लय, रेखा में दृढ़ता, निष्ठा, उदात्त कल्पना की अभिव्यंजना का परिचय दिया है।

मिर्जापुर, रामगढ़, पंचमढ़ी, होशंगाबाद, भीमबेट बिलारी क्षेत्रों में प्रागैतिहासिक काल के गुफा भित्ति चित्रों में प्रचुर मात्रा में स्त्री अंकन मिलता है। धनुर्धर पत्नी के साथ जाता हुआ, अधोवस्त्र पहने सुपुष्ट कटिबन्ध वाली, पात्र में फल लिए कुत्ते के साथ चलती स्त्री, भोजन बनाती स्त्रियां, प्रेमालाप करते युग्म, बालक को गोद में लिये माता, मंगल कलश पर फल पुष्प लिये जूड़े युक्त स्त्री, युग्म नर्तन में रत नारी के चित्रण रेखाओं में या गेरू रंग के सिलहुट में प्राप्त हुये हैं।

गुप्त काल में चित्रकला का परिष्कृत रूप और उसमें नारी के विविध रूप देखने को मिलते हैं। उस युग के चित्रों से पता लगता है कि समाज में नारी का स्थान कितना स्वतन्त्र और ऊंचा था। जो वेशभूषा और केश विन्यास उस युग में प्रचलित था, आज की नारी उसका अनुकरण करने में प्रयत्नशील है। योगीमारा, अजन्ता, बाघ, बदामी, सित्तनवासल गुफाओं में नारी चित्रण उपलब्ध होते हैं जो ईसा की प्रथम शती से सातवीं शती तक चित्रित किए गये।

उन चित्रों के अनुसार स्त्रियां बहुधा वक्ष खुला रखती थीं, उन पर चंदन का लेप कर पत्रज बनाती थी, मोती, मणियों और स्वर्णाभूषणों का बहुतायत से प्रयोग करती थीं। विविध प्रकार के जूड़े और वेणियां बनाती थी। ललाट पर बालों की घुंघरियां डालतीं थीं, लच्छे बनाती और आधुनिक रिबन की तरह ललाट पर पट्टी बांधती थी, जिससे लच्छियां और घुंघरियां सुरक्षित रहें। कपूर, लोध और अगरू से शरीर को सुवासित करती थीं, कमल व पुष्प हार वेणियों में सजाती थी, भंवो को धनुषाकार बनाती, होठों को श्वेत और लाल रग से रंगती थी। कुण्डल कंधे तक और मोतियों के हार बल खाये नाभि तक लटकते रहते थे। अजन्ता की राजकुमारी का श्रृंगार चित्र विश्व विख्यात है जिसमें उस युग की नारी के सौंदर्य प्रसाधन की सामग्री प्रचुरता से देखी जा सकती है। आभूषणों से कपड़े के बन्ध

लटकाने की, त्रिकोणाकार मुकुट सिर पर पहनने की, बाजूबन्द और पायजेब पहनने की प्रथा थी। अधोवस्त्र मणियो की रंगीन पट्टियों का घुटनों तक होता था। चीर स्कन्धों पर होकर बाजुओं में से निकल कर फर्श पर लटकता रहता था. मदिरा-पान करते युग्म चित्रों से पता चलता है कि समाज में मदिरा पीने की स्त्रियों की छूट थी। नृत्य गायन का स्त्रियों को बड़ा शौक था। स्त्रियां अवकाश के क्षणों मे झूला झूलती थी। वक्ष और नितम्ब प्रथुल होते थे। कटि क्षीण और उभरा नाभि प्रदेश सौंदर्य का प्रतीक समझा जाता था। अजन्ता वाले सिवाली के नृत्य द्वारा महाजनक को मुग्ध करने वाले चित्र से प्रतीत होता है कि लम्बी आस्तीन की कंचुकी भी पहनी जाती थी, जिसके आगे लम्बा पटका घुटनो तक लटकता था। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ गुफा चित्र भित्तियों पर बनाये जाते थे इसलिये उनमें लोक-जीवन के दृश्य उपलब्ध नही होते। बादामी, बाघ और अजन्ता की नारी कला की अधिष्ठात्री देवी है। उसका चित्रण मानवीय रूप में न होकर आदर्श सौंदर्य के रूप में हुआ है, जो चित्र शास्त्र की परम्परा के अनुकूल हैं। अजन्ता के चित्रों मे जो सीमाहीन सौंदर्य-व्याप्त है उसकी व्यंजना का साधन नारी है जो एन्द्रीय आकर्षण का केन्द्र बिन्दु न होकर आध्यात्मिकता की परिचायिका है। वह गौरव और गरिमा की विभूति है।

ग्यारहवी शती मे ताड पत्र पर चित्रित बौद्ध धर्म सम्बन्धी प्रज्ञापारमिता पुस्तक मे दृष्टांत चित्र है जिनमे अजन्ता की नारी का प्रचुर प्रभाव है। गुजरात और राजस्थानी शैली के 11वी शती से 15वी शती तक के सचित्र ग्रन्थों मे वसन्त विलास, चौर पंचासिका, बाल-गोपाल स्तुति, लोर चन्दा, गीत-गोविन्द, रतिरहस्य, कल्पसूत्र, संग्रहणीसूत्र, कामसूत्र, निशीथ चूर्णिका, उत्तराध्ययनसूत्र, कथासरित्सागर, श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णिका, सुपासनाह चरियम मे तो नारी का विशद् रूप देखने को मिलता है। उपरोक्त ग्रन्थ चित्रों में नारी के सौंदर्य लक्षणों को तीखी नुकीली नाक, प्रलम्ब नेत्र, आगे निकली चिबुक चौड़ी कनपटी, सिर पर अजन्ता जैसा मुकुट, गोल कुण्डल, जूड़े, स्कन्धो पर पल्ले, चौखाने की साड़ी द्वारा सहज ही पहचाना जा सकता है। जैन विषयक चित्रों में अधिकतर देवियों के विविध रूप ही चित्रित पाये जाते हैं। चौर पचासिका प्रेमाख्यान में चम्पावती का सौंदर्य और वेशभूषा अपने युग की विशेषता के परिचायक हैं। बारीक पारदर्शक साडियों के पल्लुओं में से लटकते काले फुंदने कमर से लटकते उस ही प्रकार के झुमके, बारीक कंचुकिया, गोल व चौखाने की भांति के लाल व नीले घाघरे, उनके आगे तिकोने पटके, वेणी पर मालाएं उस युग के प्रसाधन पर प्रकाश डालते हैं। जलाशय से फूल चुनती, मुक्ता कलाप से धवल हुए कण्ठ वाली, कुचभार से नमित देहवाली, कमल रेणु की सुगन्धि से सुवासित शरीर वाली, क्रीड़ा मे कुशल कंत के साथ परिहास करने वाली, रोपित मुखी भामिनी, विरहिणी और उत्कण्ठिता के रूप वैभव का सरस चित्रण गीत-गोविन्द, माधवानल काम कन्दला में भी प्राप्त होता है।

सोलहवीं शती में नारी के क्रिया कलाप का क्षेत्र यवन संस्कृति के प्रभाव से अन्त.पुर की चहार दीवारी में बन्द हो जाता है। चकदारजामा, पैजामा, फब्बेदार मोचड़ी, काले झुमके, तुर्की टोपी, ईरानी श्रमामा उसके सौंदर्य को एक भिन्न रूप प्रदान करता है जो मुगल चित्रों में मिलता है। बाल्यकाल की नारी मकतब से निकलकर राजसी वैभव के बीच जरीन गद्दों, मसनदों, पानदान, उगालदान के बीच चंवर और मोरछल कराती शहजादी के रूप में दिखाई देने लगती है। नर्तकियां और गायिकाएं उसका मन बहलाती हैं। जी ऊबता है तो छत पर जाकर कबूतर उड़ाती हैं—चौसर और आंख मिचौनी खेलती हैं, स्त्रियों के साथ मदिरा सेवन करती हैं, शिकार खेलने जाती हैं और घुड़सवारी करती है। दीवाने आम और खास के जश्न को जनानाखाने की ऊपर की मंजिल से जालियों में से या बारीक पर्दे में से झांक कर देखती हैं और राजकार्य की बारीकियों को भी समझने का प्रयास करती हैं। शीश महल से ख्वाबगाह और ख्वाबगाह से तस्बीहखाना, रंग महल, इम्तियाज महल, मुमताज महल, हीरा महल, सावन भादों हयातबख्श मेहताब बाग तक पालकियों और हाथगाड़ियों में सैर होती थी। चोबदार, छड़ीदार और नकीबदारों के सलाम और कोरनिश की झड़ी लग जाती थी। तब हुक्के का एक कश पान की गिलौरी या खश के इत्र की हल्की महक ही आमद रफत की परेशानियों को दूर कर सुकून देती थी। हीरे-जवाहरातों की चमक-दमक और जरी गोटे, सलमे की झिलमिलाहट मशाल या शमादानों की रोशनी से शीशमहल के शीशे में एक से अनेक में प्रतिबिम्बित हो उठती थी। शौहर की गोद मे उसके हाथ से एक प्याला शराब सारी उदासी को दूर कर देती थी। दिलरुबा, रबाब, सारगी, ताउस की गमक महलो की दरोदीवारों को खुशनुमा बना देती थी। रात को आतिशबाजी मन महलाव का जरिया बनती या फिर चांदनी रात में खुली छत पर या बगीचे में चमेली के फूलों के बिस्तर पर शौहर के साथ रात कटती। यह सारे दृश्य मुगल चित्रो में अमीर हमज़ा, दाराबनामा, सिकन्दरनामा, गुलिस्तां, बोस्तां, रसिक प्रिया, नलदमन, रज्मनामा, बाबरनामा, अकबरनामा और जहांगीरनामा पुस्तको में कहीं-कहीं उपलब्ध होते हैं और स्वतन्त्र रूप से तो बहुतायत से मिलते हैं जिन्हें देखकर उस जमाने की शान शौकत की याद ताजा हो जाती है।

दूसरी तरफ राजपूत संस्कृति यवन से प्रभावित होकर चित्रों में अपना नया रूप प्रस्तुत करती है। राजपूत काल में स्त्रियों की दिनचर्या भी उसी प्रकार की थी जिस प्रकार मुगल काल में स्त्रियों की। पति दूर विदेशों में लड़ाई में जाते थे या शाही नौकरियां करते थे इसलिए चैत्र से फागुन तक बारहों महीने पति को विदेश न जाने देने की मान मुनहार में ही स्त्रियों का समय बीत जाता होगा, ऐसा बारह मास के चित्रों की उद्भावनाओं का विभिन्न शैलियों में अभूतपूर्व चित्रण हुआ है जिनमें नारी की प्रधानता है।

राग-रागनियो का प्रत्यक्षीकरण भी नारी के रूप में हुआ है जिसमें वह कहीं असावरी के रूप में सांपों से बीन बजाकर खेलती है तो कहीं टोड़ी बनकर हरिणों को बीन सुनाती है। कही बिलावल में शृंगार रत होती है तो कहीं धनाश्री में वियोगिनी। गुर्जरी मयूर को चुगाती है तो गुनकली फूल चुनती है। सूर के पदों में मंजीरों के साथ यशोदा बनती है तो कहीं गीत गोविन्द में वन कुंजों में राधा बनकर कृष्ण की प्रतीक्षा करती है।

बिहारी के दोहों पर प्राधारित चित्रो में वह अवश्य लोक जीवन की झाकी प्रस्तुत करती है। कही नायक की उड़ाई पतंग की छाया को पकड़ने का प्रयत्न कर उसके सामीप्य का सुख लेती है तो कहीं उसके दर्शन लाभ के लिए नटी की गेंद की भांति भवन की सीढ़ियों से नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे उतरती नजर आती है। उदयपुर के चित्रों की नारी वीतराग सी तापस कन्या सदृश्य दिखाई देती है।

जयपुर में घेरदार घाघरा आधे वक्ष को कंचुकी से ढके नारी को नागरी नवेली अलबेली राधा के रूप में दिखाया गया है। तिलक पैंजामा पहने अंतः पुर के भीतर वह रानी के रूप में दिखाई जाती है जिसकी वेशभूषा देखकर मुगलानी का धोखा हो जाता है।

जोधपुर के चित्रों मे नारी को ढोला की प्रेयसी ऊंट पर सवार मारू के रूप में, वींजा की प्रतीक्षा में अटारी पर सोती हुई प्रेयसी सोरठ के रूप में, फरहाद के सिर फोड़कर मर जाने पर मिलने आई हुई शीरी के रूप में, बाढ़ आई नदी में मटके के सहारे तैर कर रांझा से मिलने जाती हुई हीर के रूप में, मधु के आलिंगन में बद्ध मालती के रूप में, तालाब के किनारे स्नान करती सद्यः स्नाता के रूप मे देखा जा सकता है। किशनगढ के चित्रों में राधा के रूपों में रंजित नागरीदास की प्रेयसी बनी-ठनी ताम्बूल सेवा में अपनी छटा बिखेरती है। रस रूपा उसके नैन नींद भरे अधखुले सलोने मदमाते और केश आलसवश बिखरे नजर आते हैं। वह नाव में बैठकर मिलने आये नागरीदास को पर्दे के पीछे पुष्पहार लिए प्रतीक्षा करती हुई दिखाई देती है। दूसरी ओर सितारो से भरी रात में नायक के लिए वह पलंग पर अक्षत यौवना सी दिखाई देती है।

कोटा में वह अंगड़ाई लेती हुई मदनालसा पुतली के रूप में, राजाओं के साथ शिकार के समय पड़ाव में, गणगोर की सवारी पर राजा को माला पहनाते हुए, दीपावली की रात्रि मे हाथी के दांतों पर नाचती हुई नर्तकी के रूप मे, सोरठ और मालती के रूप में भी चित्रित है। वल्लभ स्वामी के सुललित भक्तिभाव में लीन मंदिर में भी उसे देखा जा सकता है।

बून्दी में तो नायिका तन्वंगी, ललित लवंग लता सी मृदुतम मुग्धाधीरा, वासक सज्जा, उत्का, अनुशयना के रूप में अंकित है। नायक के साथ केसर के पानी के हौज में स्नान करते, धीर समीरे यमुना तीरे वनमाली की वनकुंज में प्रतीक्षा करते भी उसे दिखाया गया है। चांदनी रात में कृष्ण के साथ महारास में लीन, कुंजों में पुष्प शैया पर झीने चीर में आवेष्ठित राधा ने भोगरागों का संसार रच डाला। बून्दी के चित्रों में नवोढा नायिका को सखियां नायक के पास अंतःपुर में धकेलती हैं, तो कहीं फूल की छड़ी से जलाशय के पानी को आलोडित करती हुई ऊंट पर सवार को मुग्ध कर देती है। विरहिणी के रूप में काम से तप्त, लेटी हुई नायिका पांवों के तलवों और हथेलियों में चंदन लगवा रही है और कहीं पर कुए पर सखियों के साथ घुड़सवार प्रेमोन्मत्त नायक को पानी पिला रही है। तलवार, ढाल लिये, पगड़ी अंगरखी पहने वीर पुरुष के रूप में भी बूंदी की नायिका के दर्शन होते हैं तो घोड़े पर बैठकर हरिणों को तीर से शिकार करती भी देखी जाती है। नारी के लोक जीवन का चित्रण राजस्थानी चित्रों में बहुत कम देखने को मिलता है। लोक चित्रण कहीं है भी तो वह राधा के रूप में ही दिखलाई पड़ता है फिर भी अनेकों घरेलू दृश्यों की झांकी चित्रों में हो जाती है।

□

नारी सज्जा युगे युगे

आदिम युग से ही नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण रहा है और पुरुष को लुभाने हेतु नारी भी विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा एवं प्रसाधनों को प्रयुक्त करती रही है। प्रारम्भिक काल में स्त्रियां नग्न प्रायः रहती थीं—चर्म या छाल से शरीर के अधोभाग को ढंकती थी। हड्डी या मनकों के आभूषण पहनती थीं। बालों को तरह-तरह से संवारती थीं। कालान्तर में स्त्री के अंग-प्रत्यंगों को पुरुष ने नाना प्रकार के उपमा उपमानों से विभूषित किया।

मेघवर्णा, मृग लोचनी, सुकेशी, क्षमोदरी, प्रियंवदा, कामिनी, नारी के वे सम्बोधन हैं जिन्हें सार्थक करने के लिये नारी युग-युगों से साज-सज्जाओं के माध्यम से, प्रयत्नशील रही हैं। चन्दन, कुंकुम, कपूर, अगर, कुसुमगंध, धूप, माल्य विलेपन का प्रयोग प्राचीन युग में स्त्रियां देह को सुगन्धित करने के लिये करती थी। कौशेय, काशाय, सणशाटिका, अंशुक, उर्णादुकूल, प्रावरक, तसरिका, चीवर, पाशुकूल वस्त्रों का न्यूनतम प्रयोग कर अंग सौष्ठव या देह सौंदर्य प्रदर्शन की ओर अधिक बल दिया जाता था। कुण्डल, उपानह, चूड़ामणि, अंगद, केयूर, कंटक, मुद्रिका, कांची, मेखला, नूपुर स्वर्णाभूषणों के अतिरिक्त मणि, मुक्ता, वैडूर्य, शंख, प्रवाल, जातरूप, हीरक, मर्कत रत्नाभूषणों के प्रचुर प्रयोग से देह सौंदर्य में भी वृद्धि होती थी। चमेली, मोगरा, मौलश्री, रतन मजरी, चम्पा, केतकी, पद्म, मृणाल, सिरस, कुटज और कुन्द पुष्पों से भी देह को सुसज्जित कर पुरुषों के साहचर्य में विचरण किया जाता था।

वह भी युग आया जब स्त्रियां यवन काल में ज़रबफ्त, ताफ्ता, अम्बरी, तनसुख, डोरिया, अतलस और मखमल से बने पिशवाज, टकौचिया, दुलाही, शाह अजीदा, चदर, फरगल, शलवार, पैजामा, बुर्का, मुयेबाफ पाये-अफजार पहन कर जनानखानों में चिलमन के पीछे ही चहलकदमी करती दिखाई देती लगी। अलमास, जमरूंद, याकूत, लाल, अम्बर, फीरोजा, लाजवर्द से जड़े हुये दस्तबन्द, पहुंची, पायजेब, झुमके और हार की जगमगाहट चकाचौंध पैदा करने लगी। गुलाब जल, केवड़ा, रश, हिना की खुशबू दरोदीवार को तरोताज़ा और खुशनुमा बना गयी।

उधर साठन के सरसराते घाघरों में सिमटी और रेशम की ओढनियों के घूंघटों में तैरते हुये नेत्रों वाली राजपूत रमणियों ने तीर और तलवारों की बौछार करवा डाली।

वह भी युग आया जब झालर और चुन्नटदार घेरवाले घिसटते हुये भारी फ्राक पहने फिरंगी औरतें अपने मर्दों के बाजू में हाथ डाले डिनर, डान्स और ड्रिन्क के रस्मो रिवाज में इस देश में दिखाई देने लगीं। राजा, रईस, जागीरदार और सम्पन्न परिवारों की महिलाओं पर इस विदेशी सोहबत का ज्यादा असर पड़ा और वे भी अंग्रेजी तालीम याफ्ता होकर वैसे ही आचरण करने लगीं। तीन सौ वर्ष के अंग्रेजी प्रभाव और मेलजोल मे स्त्रियों की रहनसहन, वेशभूषा, साज सज्जा में सब कुछ परिवर्तित कर दिया। सारा भारत इंग्लैण्ड दिखाई देने लगा। पुनः नारी शिक्षा, आन्दोलन तथा आर्य समाज के तार्किक दृष्टिकोण ने पुरातन संस्कृति की ओर ध्यान दिलाया। रनिवास और जनानखानों के बाकी बचे हुये घूंघट और चिलमन हट गये और स्त्रियां शिक्षित होकर विविध क्षेत्रों में बाहर दिखाई देने लगीं परन्तु अंग्रेजी तालीम का असर बरकरार रहा।

अंग्रेजी साज सज्जा और फैशन का प्रचलन वैसे तो मुगल बादशाह जहांगीर के जमाने से ही हो गया था। स्त्रियां फ्राक पहनने लगी थी पुर्तगाली टोपियां और स्लैक पहनने लगी थीं परन्तु कम्पनी राज के बाद वास्तव में आधुनिक साज-सज्जा और फैशन का युग प्रारम्भ हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् तो प्राचीन मान मर्यादा एवं परम्पराओ को तोड़ने का विशेष युग प्रारम्भ हुआ और विदेशी संस्कृति ने नारी साज-सज्जा और फैशन में आमूल चूल परिवर्तन ला दिया। प्रातः स्त्रियां रात्रि के गाउन या नाइटी में शेम्पू से धोई खुली केश राशि को कन्धों पर छितराये चाय सर्व करती हैं तो बिस्तर से उठकर अलसाये पति को वह खुशबू और अदा मदान्ध कर देती है। प्राचीन युग में केश राशि को जूड़े में समेट कर कुटज और कुरबक के फूलों से सुसज्जित किया जाता था पर अब लटकी हुई सिल्की केश राशि के बीच निकला हुआ मुख मण्डल मेघ से घिरे हुये चन्द्रमा के समान प्रतीत होता है। कानों मे दोनों ओर हीरे के टाप्स और गले में झूलते हुये पेडेन्ट की चमक से बिजली सी कौंध जाती है। यदि पलकों के बीच हल्के नीले शेड में अभ्रक चूर्ण लगाया हुआ हो, रक्ताभ कपोलों से स्कन्धों तक पाउडर की श्वेताभा हो, अधरों पर क्रिमसन लिपस्टिक की लालिमा हो, नेत्रों के छोर के दोनों ओर काजल रेखा बाहर बढ़ाई हुई हो तो कालिदास के लोध्र रज, बिम्बाफल और मृगनयनों की उपमायें फीकी हो जाती है। यदि साबुन के झाग में लिपटी हुई नारी की देह यष्टि का नीलाभ टाइल युक्त बाथरूम के टब में दर्शन हों तो केसर के पीत पानी में तैरते हुये

पराग में से निकले हुये कमल मुख की लालिमा भी क्षीण दिखाई देती है। प्राचीन युग में तो नेत्रों से निकल कर अंजन की कालिमा से सरोवर का जल काला हो जाता था पर अब तो साबुन के झाग में अंजन मंजन सब साफ हो जाता है। उसके पश्चात् नाना प्रकार के क्रीम, पाउडर, लवेन्डर, सेन्ट की भीनी-भीनी खुशबू बाथरूम से बेडरूम तक के वातावरण को सुवासित कर देती है। कपड़ों में कन्ट्रास्ट या मेचिंग का ज्ञान आधुनिक युग की बड़ी देन है। शरीर का रंग सांवला हो तो हल्के रंग की साड़ी ब्लाउज अच्छे लगते हैं और रंग गोरा हो तो कन्ट्रास्ट के रंग अधिक निखर आते हैं या फिर सारे ही रंग लुभावने लगते हैं। विनोन-शिफोन-जारजेट के पारदर्शक रंगों में से चन्दनिया रूप रंग चमकता हुआ "जा तन की झांई परे श्याम हरित द्युति होय" कवि बिहारी की उक्ति को सार्थक करने में सफल होता है। साड़ियां मुगले आज़म, शबनम, दिल देके देखो फिल्मों के नामों में हों तो मध्यवर्गीय स्त्रियों को अधिक आकर्षक लगती हैं और अगर जरी, सलमे, सितारे, जरदोजी, मीमजरी, बनारसी या गोटे किनारी का काम उन पर हो तो उनकी समृद्धि का प्रदर्शन होता है। उच्च वर्गीय महिलाओं की पसन्द में सादगी का समावेश होता है। उससे देह की स्निग्धता, सुघड़ता और रंग रूप में निखार आता है। लिपस्टिक का रंग भी साड़ी के रंग से मिलता होता है या चूड़ियां भी साड़ी के रंग के अनुरूप हों तो कर कमलों की शोभा में चार चांद लग जाते है। यहां तक चप्पल या सेण्डिल के रंग भी ऊपर के रंग से ही साम्य रखते हुये होते हैं। गुजरात या नाथद्वारा की कास्ट्यूम ज्वेलरी का एक पेडेन्ट और कानों में क्लिप वाले टाप्स ही बस रत्नकर्णिका कुन्डल और चन्द्रहार की समानता करने को पर्याप्त होते हैं। साड़ियों में झालर, प्राचीन भित्ति चित्रों या लघु चित्रों के प्रतिरूप के डिजायन भी प्राचीन का अनुकरण है। सीधे पल्लू की साड़ी पहनने से देशज भाव की झलक आती है पर जूड़ा बनाकर उल्टे पल्ले की साड़ी कंधे पर डालने से आधुनिकता का भास होता है। यदि स्त्री सर्विस करती हो तो फिर पति को परकीया का सुख अपनी स्वकीया में ही उपलब्ध हो जाता है क्योंकि सर्विस पर जाने वाली स्त्री को परकीया के समस्त लक्षणों से युक्त होना अनिवार्य होता है और पति को भी स्त्री के नित्य नये परिवेश और साज-सज्जा परकीया का सा आनन्द देने लगते हैं। यदि स्त्री रात्रि को पार्टियों, क्लब या सभा-सोसाइटियों से देर रात को लौटती हो तो अभिसारिका का आनन्द भी पति सुगमता से ले लेता है। फैशन में आवर्तन परिवर्तन होते रहते हैं, कभी पुराना नया हो जाता है तो कभी नया पुराना हो जाता है।

कुछ ही समय पूर्व लड़कियों के झुंड बेलबाट, स्लेक्स और शर्ट में दिखाई देते थे, पर अब स्कर्ट, मिडी, शिफ्ट ने घुटने से नीचे तक के भाग के प्रदर्शन में बड़ा योगदान दिया है।

प्रकृति के लोप में कदली गाभ तो दिखाई नहीं देते अलबत्ता उनकी उपमेय जंघाओं और पांवों के नाना रूप अवश्य दिखाई देते हैं। पिंडलियों पर बाल या रोमावलि उनकी मांसलता स्निग्धता और रंग के प्रदर्शन में बाधक होते है तो ब्लीचिंग कर उन्हें हटा देना ही उचित समझा जाता है। ब्यूटी क्लिनिक से निखर कर आने के पश्चात् तो बस असुन्दरता भी सुन्दरता में बदल जाती है इसलिये मुख का अब चन्द्र या कमल होना आवश्यक नहीं है—उन्हें वैसा ही रूप पार्लर में दिया जा सकता है। योगाभ्यास आन्दोलन ने तो देह सौष्ठव को अधिक सुगढ़ और सुन्दर बनाने में सहायता दी है। सभी नारियों को योग करने का चस्का लग गया है।

चूड़ीदार पैंजामे और काफ्तान ने पुराने पिशवाज पैंजामे का रूप ले लिया है जो पहले नृत्यांगनायें पहना करती थीं बल्कि सलवार कुर्ता कुछ वर्षों पूर्व फैशन मे था और अब फिर वापस फैशन में आ गया है। यदि काफ्तान के चाक अधिक कटे हुये हों और लम्बाई अधिक नीचे तक लटकती हो तो पहनने वाली अधिक आधुनिका मानी जाती है। उत्तरी भारत में सलवार कुर्ता या काफ्तान का प्रचलन अधिक है।

हिप्पी आन्दोलन ने एक और फैशन को ईजाद किया है जिसमे क्रेप की शर्ट, गोल गले की टी शर्ट और जीन्स ने कपड़े की धुलाई और इस्त्री की आवश्यकता का परिहार किया है। नहाने धोने की जरूरत भी यू. डी. कोलोन ने समाप्त सी कर दी है। जीन्स जितनी बदरंग हो उतनी ही कीमती और अच्छी समझी जाती है और यदि किसी विदेशी महिला की पहनी हुई हो तो उसकी खसलत में बढ़ोतरी हो जाती है। उसकी उपलब्धि के लिये बड़े प्रयत्न किये जाते हैं। सी थ्रू शर्ट और जीन्स पहनने से "कटिको कन्चन काट करि" वाले दोहे की उक्ति वास्तव में सार्थक बनती है। पठान सूट और सफारी सूट पहनने से कमनीयता गायब हो जाती है और मर्दों को भी इसीवेशधारी स्त्रियो से पुलिस का सा डर लगने लगता है। पश्चिमी भारत मे इस फैशन का प्रचलन अधिक दिखाई देता है।

इन वेशभूषाओं के साथ बॉय कट, बाब कट, फैदर कट, यू कट या सिल्की स्टाइल भी चलता है। पोलीटेल में रबर बैण्ड के बजाय अच्छा सा कीमती रिंग हो तो टेल वास्तव में टेल बन जाती है। ललाट पर बालों की लच्छियों को गूंथ कर लटकाई जाती हैं। चोटी के साथ कानों के बगल में जुल्फें लहराती हो तो भी सौंदर्य में वृद्धि होती है। साधना, रेखा या जया कट भी आवर्पित करते हैं। गले में हाथी दांत के कड़े के टुकड़े, शेर के नाखून का पेन्डेन्ट, चोनी या चान्दी का तावीज हो, हाथ मे सेमीप्रेशस स्टोन का ब्रूच का कड़ा हो तो आधुनिकता को कोई चैलेन्ज नहीं कर सकता। सोने चांदी के आभूषणों की उपादेयता असुरक्षा और

मंहगाई ने समाप्त कर दी है। इस परिवेश के साथ ही साथ अगर कान्वेन्ट टाइप इंग्लिश बोलने के अभ्यास के साथ बीयर, हैरोइन, हशिश या सिगरेट की गन्ध का झोंका हर सांस के साथ आता हो तो नारी सभा सोसाइटी नौकरी में कहीं भी अपनी धाक आसानी से जमा सकती है। बॉय फ्रेंड बनाये बिना नारी गुणों की सक्षमता नहीं आती–कुमारिका सीमा में आते ही बॉय फ्रेन्ड आवश्यक समझा जाने लगा है।

स्कूटर पर बॉय फ्रेन्ड की कमर में हाथ डालकर गॉगल्स लगाकर बैठ सिल्की बालों को उड़ाने का अवसर मिल जाये तो सारी दुनिया मृत्युलोक में पड़ी दिखायी देती है।

नारीगत कोमलता, मृदुता, बड़ों के प्रति मान मर्यादा, सम्मान, कुशल गृहिणी की विशेषतायें सब कुछ मिट गया है पर आधुनिक साज-सज्जा और विदेशी फैशन के अनुकरण का आनन्द भी अपने में विशिष्ट है जो शताब्दियों पूर्व तक उपलब्ध नहीं था।

□

मेंहदी–महावर

मेंहदी के नाम से ही रसिकों के मन में सरस कल्पनाओं की उद्भावनायें होने लगती हैं। सुन्दर नारी और मेहदी का परस्पर संबंध है और वही हमें उसकी कल्पना से तादात्म्य कराता है। मेहदी की लाली से ही नारी के कर-पल्लवो की कमनीयता और एड़ियों की कोमलता में सौंदर्य की अभिवृद्धि होती है।

मेंहदी का उपयोग प्राचीन काल से होता चला आ रहा है, परन्तु पहले इसका रूप आलक्तक था जो लाख से निकाला जाता था और गहरा लाल होता था। इस रंग को महावर या महावड़ कहते थे।

कालिदास के काव्यों में स्थान-स्थान पर आलक्तक का वर्णन आता है। ऋतुसंहार के ग्रीष्म वर्णन में "नितान्त लाक्षारस राग रजितैंनितम्बिनीनां चरणैं सुनूपुरैं" स्त्रियो के उन महावर से रगे पैरों को देखकर लोगों का जी मचल उठता है, जिनमें हंसो के समान रुनझुन करने वाले बिछुए बजा करते हैं। शाकुन्तलम् में भी कालिदास ने महावर का वर्णन किया है "निष्ठयुतश्चरणोंपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्"—दुष्यन्त के घर जाने के समय सखियो ने शकुन्तला के पांवो में महावर लगाई।

पैरों मे लाल चन्दन का भी लेप किया जाता था। मालविकाग्निमित्र नाटक मे प्रतिहारी राजा से कहता है—"प्रवातशयने देवी निषण्णारक्त चन्दन धारिणी" इस समय महारानी बयार वाले भवन में पलंग पर बैठी हैं, उसके पैर में लाल चन्दन लगा हुआ है।

राजा अपने मित्र से मालविका के सौन्दर्य का वर्णन करता है—"चरणान्तनिवेशिता प्रियायाः सरसापश्चवयस्य रागलखाम प्रथमानिव पल्लव प्रसूति हरदग्धस्यमनोभवद्रुमस्य" प्यारी के पैर में महावर की जो गीली लकीर बनी है वह ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो महादेव के क्रोध से जले हुए कामदेव के वृक्ष मे नई-नई कोपलें फूट पड़ी हों। प्राचीन मूर्तियों में मेंहदी का आलेखन दिखलाना सम्भव नहीं था वरना कोई सन्देह नहीं, कारीगर इसका अंकन मूर्तियों मे करते।

महावर का रंग प्राचीन चित्रों के हाशियों में लगाया जाता था। बून्दी के चित्रों में महावर का बहुलता से उपयोग किया जाता था। इसके अतिरिक्त प्राचीन पुस्तकों के पन्ने मेंहदी के पानी में रंगे जाते थे।

बाद में महावर का स्थान मेंहदी ने ले लिया। शृंगार रस की मधुर कल्पना को तीव्रतर बनाने वाली मेंहदी उर्दू, फारसी, हिन्दी व मुख्यतः लोक काव्य में स्थान-स्थान पर वर्णन का विषय बनी है। उर्दू के एक शायर ने लिखा है "कटी, कुटी, पिसी, छनी, गुंधी मेंहदी—इतने दुख सहे जब उनके कदमों में लगी मेंहदी।" उनके कदमों में लगने को भी मेंहदी तरसती है आशिक की कितनी बारीक खयाली है। फारसी का भी एक शेर पहेली के मानिन्द है लेकिन अर्थ की सुन्दरता गौर करने काबिल है "रोजे के दरबदख्शां यख बर चनार बन्दद फालूदये दमिश्की खलखाल मारगरदद।" एक रोज बदख्शां में चनार के दरख्त पर बर्फ पड़ी और दमिश्क का फालूदा सांप की पायजेब बन गया। अर्थ है (बदख्शां) स्त्री के हाथ (चनारका दरख्त) पर मेंहदी लगी थी बर्फ गिरी थी, और माथे की लट चेहरे पर आगे आ गई जिसको स्त्री ने मेंहदी लगे हाथों से हटाकर होठों से पकड़ लिया। कल्पना शायर को लगी कि जैसे सांप ने दमिश्क के फालूदे की पायजेब पहन ली हो (दमिश्क का फालूदा स्त्री के होंठ) साप (बाल की लट)।

एक राजस्थानी लोक गीत के अनुसार बालू रेत में मेंहदी बोई, यमुना के पानी से सींची, कच्चे दूध से सींची, नाजुक नार ने चूंटी, चक्की में पीसी, रतन कटोरे में भिगोई, फिर बड़ी बहन ने मांडी, भाभी ने मांडी और अन्त में नणदल बाई के बीर ने निरखी। निरख कर पति ने पत्नी से कहा कि तेरे मेंहदी किसने मांडी? और फिर प्यार से कहा कि ये तेरे हाथ मेरे हृदय पर रख। मेंहदी रचे हाथ बड़े सुन्दर लगते हैं। इस पर जवाहरात निछावर कर दूं। प्रेम रस में भरी मेंहदी बड़ी रचने वाली है। सत्रहवीं शती से आगे राजस्थानी व कागड़ा चित्रों में नायिकाओं के हाथ-पांवों में मेंहदी के आलेखन बहुलता से मिलते हैं।

राजस्थान में मेंहदी का जन्म से लेकर मृत्यु तक स्त्री के जीवन में बहुत महत्त्व है। विवाह के समय, बच्चा पैदा होने के समय, त्योहार के समय, पीहर या ससुराल जाते समय, चूड़ा पहनने के समय, नया कपड़ा पहनने के समय, सधवा स्त्री के मरने के समय कदम-कदम पर मेंहदी की उपयोगिता है।

विवाह में हथलेवे में मेंहदी लगवाकर ही वर-वधू के हाथ जुड़ाये जाते हैं—जो मेंहदी लगे गोरे हाथ जीवन पर्यन्त वर के हाथों में रहकर उसे जीने की प्रेरणा देते हैं। उन्हीं हाथों को, फेरों के समय युद्ध का आह्वान होते ही, वीर वर को, सदा के लिये मोह छोड़ देना पड़ता है। उन्हीं हाथों से वधू को अपना सिर काट कर पति

को युद्धरत होने के लिये भेज देना पड़ता है। यह है केवल इस वीर भूमि की परम्परायें जिनकी संसार में कहीं मिसाल नहीं मिलती।

मेंहदी की कला का, राजस्थानी आभूषणों और वेशभूषा के साथ परस्पर योग है। गोखरू, पहुंची, हथफूल, मूंदड़ी आभूषणों से सजा हुआ मेंहदी लगा आरक्त हाथ किसको विचलित किये बिना रह सकता है?

किवाड़ की ओट में छुपी कामिनी का मेंहदी लगा हाथ उसके रूप का बोध करा देता है। कभी-कभी प्रेम की शुरूआत हाथ या पांव देखकर ही हो जाती है।

राजस्थान कलाओं का केन्द्र स्थल है। मांडने व मेहदी की कला यहां की स्वाभाविक कला है जो प्रायः प्रत्येक स्त्री को परम्परा से हस्तगत होती है। इस आलकारिक कला का, स्त्री की जीवनोपयोगी वस्तुओं से गहरा सम्बन्ध है, जिनकी परिकल्पनाएं वह अपनी सहज निपुण रेखाओं मे मेहदी की पिष्टी द्वारा हाथ-पांवों पर आलेखित करती हैं।

रेखाओं की सुदृढ़ता, भांत में रिक्त स्थानों की पूर्ति द्वारा संयोजन, पिष्टी का समरस आलेखन इस कला के आवश्यक अंग हैं, जिनके बगैर मेंहदी की कला में सौन्दर्य की अभिवृद्धि नही की जा सकती। जिन परिकल्पनाओं का मेहदी की कला मे उपयोग किया जाता है वे हैं त्योहार पर काम आने वाली वस्तुएं, मिठाइया, कपड़ों की भातें, मांडनों की भातें, फूल-पत्ते, पक्षी इत्यादि।

गणगौर पर चूंदड़ी, गुणा और शक्करपारा (मिठाई विशेष) की भांत मांडी जाती है।

तीज के त्योहार पर लहरिया व घेवर (मिठाई) का विशेष आलेखन किया जाता है। बच्चे के जन्म पर सारे घर में साथिया (स्वस्तिक) मांडा जाता है तथापि मेहदी में भी उसका विशेष उपयोग किया जाता है।

विवाह के समय हथलेवे पर, क्योंकि गीली मेंहदी वर-वधू के हाथ जोड़ने से बिगड़ जाती है, केवल मूठ का उपयोग किया जाता है अर्थात् मेहदी मुट्ठी में लगाकर भीच ली जाती है।

दीपावली के अवसर पर चौपड़ और हाटड़ी की भांत विशेषतया बनाई जाती है। हाटड़ी लक्ष्मी के आगे मक्के की फूल्या भरने के काम आती है और चौपड़ जुआ का प्रतीक है जो उस दिन विशेषकर शुभ का प्रतीक समझी जाती है। इन्हीं कारणों से इनके प्रतीकात्मक आलेखन का स्त्रियां प्रयोग करती हैं।

स्त्रियों के खेलों की वस्तुओं का भी चित्रण होता है। चकरी फिराना प्राचीन समय में स्त्रियों का मनोरंजन था, इसी हेतु चकरी की भांत भी मेंहदी में देखने को मिलती है। प्राचीन चित्रों में स्त्रियां चकरी फिराती देखी जाती हैं।

कपड़ों में घाट, चूंदड़ी व लहरिया की भांति स्त्रियों को विशेष रूप से प्रिय हैं, इस हेतु उनका प्रयोग मेंहदी में बहुलता से किया जाता है।

फलों में कैरी व सिंघाड़ा अधिक बनाया जाता है क्योंकि उनका अंकन सहज पाया गया है। त्रिभुज सिंघाड़े का प्रतीक है। फूलों में छै पांखड़ी, कमल व अन्य आलंकारिक प्रयोग साधारणतया प्राप्त होते हैं।

लौंग, इलायची व जीरा भी स्त्रियों के आलेखन का विषय बने हैं, कारण है इनका सहजांकन।

छड़ियां व फूलड़ी बनाने की मेंहदी में बड़ी प्रथा है। प्रकृति की जो वस्तुएं राजस्थान में देखने को दुर्लभ हैं उनकी पुनरावृत्ति आलेखनों द्वारा स्वाभाविक ही है। गुलाब की छड़ियों से प्रेमाभिभूत होकर वर को मारने का लोक गीतों में वर्णन है और वास्तविकता में भी विवाह के समय वधू का वर को फूलों की छड़ी से मारना देखा जाता है।

माडने के रिक्त स्थानों की भरती के लिये चीरण, डबके व डोरों के आलेखनों का प्रयोग किया जाता है। डोरे समानान्तर रेखाओं को कहते हैं जिनके बीच बेल भर दी जाती है। बेलों में दाख छुआरे का प्रयोग उल्लेखनीय है। पगल्या, चौक, पथवारी, माता, डबका, बीजणी, फुलड़ी, गुणा के डिजायन भी मेंहदी मांडने में अपना अस्तित्व रखते हैं। चरक संहिता और सुश्रुत संहिता में मेंहदी का उल्लेख मिलता है जो औषधि के काम आती थी। यह भी कहा जाता है कि मेंहदी मिस्र से भारत में आई।

अब तो प्लास्टिक के कोन में सूराख कर मेंहदी के घोल को दबा कर बारीक से बारीक डिजायन बना लिये जाते हैं तथा मेंहदी के डिजायन के स्टेन्सिल उपलब्ध हो जाते हैं जिनके द्वारा सहजतया कठिन से कठिन डिजायन भी मेंहदी में मांड लिये जाते हैं। विदेशी स्त्रियों को भी मेंहदी मंडवाने में रुचि उत्पन्न हो गई है। अरब में तो स्त्रियों को मेंहदी में विशेष रुचि है।

□

युग-युगों में मद्यपान

उमर खैयाम ने चौराहे पर बैठकर शराब पीने की दुहाइयां दीं और वह भी साक़ी के हाथ से। जहांगीर ने सोने के प्यालों में शराब पी और वह भी अनिन्द्य सुन्दरी नूरजहां को सामने बैठा कर। जहांदारशाह बादशाह ने लाल कुंवरी की सूरत प्यालों में देख देख कर पी। वाजिद अली शाह ने किस नखरे से पी होगी, उसका बयान बड़ा मुश्किल है। बहादुर शाह जफर के जमाने में तो शायरी पर कितनी झारियां उड़ेल दी गयी होंगी हिसाब नहीं किया जा सकता। मुहम्मद शाह ने तो शराब के हौज भर-भर कर किश्तियां तैरा दीं। किसी ने उस जमाने में शराब बन्दी करने की धमकी न दी। आज के जमाने में न शराब उतनी सस्ती मिलती है, न सरे आम चौराहे पर बैठकर पीने की आजादी है फिर भी लोग हैं इसके खिलाफ फेरियां निकालते हैं, आमरण अनशन करने के लिये तम्बू लगाकर लेट जाते हैं। लोग जमाने भर की अनैतिकता की जिम्मेदारी शराब पर ठहरा कर इन्सान को अच्छा बनाने की ठेकेदारी करते हैं।

इन्सान तो जब से आदम और हव्वा की आगोश से निकला है, तभी से सुरा और सुन्दरी की तमन्ना करता आया है। न वह कभी अच्छा था न बनेगा। उसे अगर इतनी जरूरी चीजों के लिये मना किया जायेगा तो वह घरों में "बार" खोलेगा, पब्लिक गार्डन में रात के अंधेरे में जाकर पीयेगा, स्कूल-कॉलिजों के दरवाजों पर "रेस्क्यू होम", के नीचे "नर्सिंग सेन्टर्स" की चहार दीवारी के बाहर औरतों की तलाश में सीटी बजायेगा और उनके न मिलने पर गम में और ज्यादा पीयेगा।

अब न साकी है न कोई औरत नूरजहां की तरह शौहर को पीने की आजादी देती है न लाल कुंवर की तरह खुद पिलाती है। फिर भी न शराब बंदी होनी है, न आदमी ऐसा आदर्शवादी और नैतिकतावादी होना है जैसा नैतिकता के ठकेदार चाहते हैं। अच्छा यही है कि शराब की तवारीख पर एक नजर डाली जाय।

पौराणिक काल में शराब सोमरस के नाम से प्रसिद्ध थी। आर्य लोग यज्ञों के समय खूब सोमरस पीते थे और गोष्ठियां करते थे। कृष्ण ने अर्जुन के साथ

द्रोपदी को बिठा कर शराब पी। इन्द्र तो अप्सराओं के मुन्तजिम थे, यदि वे न पीते तो अप्सरायें स्वर्ग में ठहर ही नहीं सकती थी। कृष्ण के बड़े भाई बलराम भी रिन्द थे। यादवों ने पिण्डारक तीर्थ से समुद्र यात्रा के समय गोष्ठी में द्वारिका की सहस्त्रों वैश्याओं के साथ जल-क्रीड़ा की। बलराम की आज्ञा से नटियों ने कृष्ण चरित्र का अभिनय किया। इसके बाद रास हुआ। मेरेय, माध्वी, सुरा और आसव का आपान किया। बलराम ने यमुना से भी आग्रह किया कि वह भी आपान करें। यमुना के मना करने पर बलराम ने यमुना को अपने हल से खींच डाला। रावण तो खूब शराब पीता ही था। हनुमानजी ने उसे शयनागार मे स्त्रियों के साथ पीते हुये देखा था। कालिदास के "कुमार सम्भव" में जिक्र है कि माता पार्वती ने शराब पी ली और उनके वस्त्र अस्त व्यस्त हो गये। फिर भग पीकर भगवान शिव उनको उठाकर अपने "बेडरूम" में ले गये। अमृत और शराब में मेरे अनुमान से कोई खास फर्क नही होगा, तभी विष्णु भगवान ने मोहिनी रूप (साका) धर कर देवताओं को अमृत बांटा और वे सब मोहिनी रूप पर मुग्ध हो गये। यदि अमृत शराब जैसा जिन्दा दिल असर करने वाला न होता तो देवता लोग भगवान विष्णु के साकी रूप को देखकर ऐसी हरकत हरगिज नही करते। भैरव तो शराब से खुश होते ही हैं, पर देवी काली के तो कहने ही क्या। वे तो गुलाब और महुये की बोतल पर ही वरदान दे देती हैं। अब बतलाइये, आखिर देवी को तो शराब की बुराइयों की जानकारी होगी ही। यक्ष और कुबेर भी शराब के बड़े शौकीन थे। उनकी प्रतिमाएं शराब पीते हुये मिलती हैं। यह सब बातें पौराणिक काल की हैं। आज का आदमी जब तक सबूत नही मिलता ऐसी बातों पर विश्वास नही करता। इसलिये दूसरी शताब्दी की राष्ट्रीय संग्रहालय की मथुरा शैली की कुषाण कालीन शराब पीकर मस्त हुई एक प्रतिमा को देखिये जिसको दो स्त्रियाँ दोनों तरफ से सहारा देकर खड़ा कर रही हैं और वह नशे में चूर ऐसी निगाहों से देख रही हैं कि बड़े-बड़े शराब से नफरत करने वाले भी उसकी चितवन पर मोहित हो सकते हैं। चौथी शती की गांधार शैली की एक मूर्ति में विदेशी लोग शराब पीकर गा-बजा रहे हैं। अजन्ता गुफा के एक चित्र में राजा-रानी शराब पी रहे हैं। यह भी एक प्रसिद्ध चित्र है।

बाणभट्ट की विश्व विख्यात काव्य "कादम्बरी" शराब का ही पर्यायवाचक शब्द है। अप्सराओं के अमृत से उत्पन्न हुये कुल मे मदिरा नाम की कन्या थी। उसका विवाह गन्धर्व राजा चित्ररथ से हुआ। इसके द्वारा मदिरा से कादम्बरी नाम की कन्या हुई थी जो अलौकिक सौन्दर्य शालिनी थी और जिसका चन्द्रपीड के साथ समागम हुआ। इससे प्रतीत होता है कि मदिरा या शराब को समाज मे कितना उच्च स्थान प्राप्त था। वात्स्यायन ने "काम सूत्र" में चौसठ कलाओं की जो

तालिका दी है उसमें शराब बनाने का भी उल्लेख है। पता चलता है कि शराब बनाने की विधि की कलाओं में परिगणना होती थी।

दश कुमार चरित्र, बसन्त सेना, वसुदेव हिन्डी और मृच्छकटिक नाटकों में मनोविज्ञान जीवन के और क्रिया-कलापों पर, जिनमें सुरापान मुख्य है, काफी प्रकाश डाला गया है। इन काव्यों में स्थान-स्थान पर विटों, पीठमर्दों, धनवान पुरुषों का वैश्याओं के साथ मद्यपान करने का वर्णन मिलता है।

यूनानी यात्री मेगस्थनीज के अनुसार वैश्यायें राजाओं को भोजन करातीं और शराब पिलाती थीं और उनके नशे में बेहोश हो जाने पर शची देवता के गीत गाती हुई शयनागार में ले जाती थीं। "हर्ष चरित्र" में पुत्र जन्म के अवसर पर वैश्याओं का कुल वधुओं के साथ मद्यपान कर नाचने का उल्लेख मिलता है।

चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि शराबखाने नगर से दूर हुआ करते थे। "वृहत् कथा श्लोक संग्रह" से पता चलता है कि गुप्त काल में यज्ञ पूजा में शराब और फूल होते थे। पूजा में चढ़ी शराब का भक्त प्रसाद पाते थे। शराबखानों में उनके परिज्ञान के लिये पताकायें लगाई जाती थीं जिन्हें देखकर जैन भिक्षु उनके पास नहीं फटकते थे।

गुप्त काल में गोष्ठियों के आमोद-प्रमोद का सुन्दर वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। गोष्ठियों में संगीत प्रेम और शराब खोरी का एक उल्लेख "अवदान शतक" (वसुदेव हिन्डो) में मिलता है। जब बुद्ध ने श्रावस्ती में प्रवेश किया तो उन्होंने नशे में बेहोश गोष्ठिकों को वीणा, पणव और मृदंग बजाते और गाते देखा। बुद्ध के समय में समाज नाम की गोष्ठियां होती थी जिनमें खूब शराब पी जाती थी। अशोक ने वर्जित किया था कि समाज की गोष्ठियां न हों। पता चलता है कि गुप्त युग में और उससे पहले शराबखोरी का धर्म विरुद्ध होते हुये भी खूब प्रचलन था। जैन शब्दों के अनुसार पानागारों में शराब बेची जाती थी। शराब बेचने को "रस वाणिज्य" कहते थे। लगता है घरों मे शराब के कुम्भ होते थे। जैन ग्रन्थों मे चन्द्रप्रभा: मणिशलाका, वरसीक, सुपक्व, इक्षुरस, सुरा, मज्जु नाम आये हैं। मधु शायद अंगूरी शराब थी जो मेरक, मेण, शृंगा: गुड, छोटा पीपल और त्रिफला के योग से बनती थी। प्रसन्नापिष्ठी और किण्वे मसाले से बनती थी। आसव-ईक्षुरस, शक्कर और मधु से बनती थी।

कर्नल टॉड के अनुसार राजपूत सीथियां से आए हुए लोग थे और वे शराब के बहुत ही शौकीन थे। उनके यहां शराब पुत्रजन्मोत्सव, विजयोल्लास, छोटे-बड़े सभी उत्सवों पर काम में ली जाती थी। उनके समाज में स्त्रियों को भी मदिरा पान की छूट थी। वे रनिवास की स्त्रियों के साथ मदिरा पान करती थी।

दारूडी और मारूडो का उल्लेख लोक गीतों मे भी यत्र तत्र मिलता है। "दारू पीग्रो सो रग करो सौ रातराखो नेण" गीत ढोलणियां सुनाकर वीर रसिकों को प्रसन्न करती थी। पति के लडाई या विदेश से आ जाने पर पत्नी आग्रह करती थी "थाने दारूडो पिलावां सारी रैंण, यांही रहिज्यो सा अन्नदाता यांही रहिज्यो सा" "बांकड़लो मूछ्यां रो मद पीतो ही आवे लटपट चाल सुहावे।" दोपहर और रात को खाने के पहले मदिरा सेवन का आम रिवाज था। दारां की दारू चुस्की में या सुटकी में पी जाती थी। चुस्कियां चांदी-सोने, जवाहरात से जड़ी हुई—मीना की या देशी कांच की हुआ करती थी। कांच की चुस्कियां और शीशीयों की इतनी महत्ता था कि स्थापत्य में मेहराबों में शीशी का अंकन एक विशिष्ट स्थान पा चुका था, जो प्राचीन भवनों मे जगह-जगह देखने को मिलता है।

शराब शिकार के समय और युद्ध के समय तो विशेषत: पी जाती थी। ठिकानेदारो या राजाओं के आपस के मिलने के समय मजलिसें आयोजित की जाती थी जिनमे अपने-अपने ओहदों के अनुसार दरबारी लोग बैठते थे और ओहदो के अनुसार ही उन्हें प्याले भी प्रस्तुत किये जाते थे। विवाह के समय तो शराब कितनी तादाद मे काम लो जाती थी बयान मुश्किल है। स्नान के समय हौज में खड़े होकर पीना भी एक रुचि की बात थी। बहुत से नवाब और जागीरदार तो पीने के इतने अभ्यस्त हो चुके थे कि उनकी मजलिस सुबह से शाम तक चला करती थी और उसके साथ में नाच की प्रक्रिया भी समाप्त नहीं होती थी। शराब झाड़ी के बेर की जड़ के बक्कल, बबूल के वक्कल, रोझ के बक्कल, गुड, गुलाब, किशमिश, नारंगी, इलायची, मतीरे और अन्य कई फलों और मेवों से बनती थी। जिन्दगी वख्श, आवास, केसर कस्तूरी उनके नाम प्रसिद्ध थे।

राजस्थान उन वीरों का निवास स्थान रहा जो हर समय कुर्बानी देने को तत्पर रहते थे। इसलिये आमोद-प्रमोद से भी वे विलग नही रहे। उनका एक कदम लड़ाई के मैदान में तो दूसरा कदम दारू पीते हुये मजलिस में रहता था। दारू पिला कर राजनीति के बहुत बड़े-बड़े काम निकाले जाते थे। राजपूत तो शराब को देवी के प्रसाद के रूप में ही पीते थे। अलग-अलग ठिकानों की दारू भी अलग-अलग प्रकार की निकाली जाती थी जो प्रसिद्ध होती थी। दारू सेवन करने के, उनकी किस्मों के, मजलिसों के, उनके द्वारा होने वाले नुकसान-फायदों के इतने किस्से हैं कि अन्त नहीं है। शराब पीने वाला व्यक्ति यदि अन्तर्मुखी है तो अधिक दयालु, सहृदय, दरियादिल भी होता है। न पीने वाले जाहिद और सूफियों की प्रकृति इसके बिल्कुल विपरीत होती है।

राजस्थानी साहित्य मे दारू का वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। चांदनी रात में खुली छत पर प्रेमी-युग्म शराब पीते थे। इनके दृश्य प्राचीन चित्रों

में विविध शैलियों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। उत्खनन से प्राप्त कान्तियुक्त लाल मृद-पात्र इस बात के साक्षी हैं कि प्रस्तर युग में भी मदिरा पान होता था। भीनमाल से रोमन सुरा-पात्र तथा आहाड़ से भी ईरानी ढंग के सुरा-पात्र प्राप्त हुए हैं। भारत और रोम के बीच मदिरा व्यापार भी होता था, इसके प्रमाण शिलालेखों द्वारा प्राप्त हुए हैं। कौटिल्य, पतंजलि और जैन साहित्य से पता चलता है कि नाना प्रकार के कुम्भ और पात्र सुरा के लिए काम आते थे। राजस्थानी प्रतिमाओं से भी मदिरा-पान के दृष्टांत उपलब्ध होते है। सातवीं-आठवीं शती के गुर्जर प्रतिहार स्मारक ओसियां और आभानेरी से बलराम और गणेश की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं जिनमें वे शराब पी रहे हैं। रेवन्त (सूर्यपुत्र) की प्रतिमा भी शराब पीते हुए उपलब्ध हुई है।

मुगल काल में तो शराब का अत्यधिक प्रचलन था। बाबर अपने पूर्वजों के समान ही शराब पीने का शौकीन था, उसके कुटुम्ब के लोग अधिक शराब पीने से ही मर गये थे। कुरान मे शराब पीने की मनादी का वही प्रभाव हुआ जो अठारहवी शती मे अमेरिका में और बीसवी शती में अब भारत में हुआ है। "बाबरनामा" मे जगह-जगह बाबर की शराब की मजलिस के जिक्र हैं। वह सुबह खाने के वक्त, रात बहुत देर तक और दिन में कई बार शराब पीता था। जो दरबारी लिहाज और शर्म से नहीं पीते उन्हें भी छूट दे दी गयी थी कि वे शराब पी सकते है। बाबर ने खानवा की लड़ाई में राणा सांगा से लड़ते वक्त चालीस वर्ष की आयु में कसम खाई थी कि वह शराब नहीं पीएगा। उसने सोने-चांदी के बेशकीमती प्याले भी तुड़वा दिये थे। जो शराब मौजूद थी वह सब फिकवा दी और जो काबुल से आई थी उसमे नमक डलवा कर सिरका बनवा दिया था। हुकम दिया गया कि जहां शराब ढुलाई गई है वहां पत्थर का चबूतरा बनवा दिया जावे। बाबर के दिल में यह अंदेशा पहले ही हो गया था कि चालीस वर्ष की उम्र में वह शराब छोड़ देगा इसलिये बहुत अधिक पीने लग गया था और माजूम भी खाता था। शनिवार, रविवार, मंगलवार व बुधवार के दिन वह शराब पीता और बाकी दिन माजूम खाता था।

हुमायूं भी शराब पीता था; वह शराब, अफीम और शायरी तीनों ही का शौकीन था। वह कहता था बड़ी मशक्कत से पाई हुई फतह से मिलने वाले आनन्द के बजाय यदि ये तीनों वस्तुएं मिल जायें तो इनका आनन्द फतह की जिल्लत से अधिक होगा। अकबर ने शराब बंदी का प्रयत्न किया था। उसने आगरे में किले की बगल मे एक शराब की दुकान खुलाई जहां हकीम के बतलाये हुए नुस्खे के अनुसार ही कोई शराब पी सकता था। अकबर सब धर्मों का समान आदर करता था। इसलिये कट्टर मुसलमानों ने यह प्रचार कर दिया था कि शराब शरियत के

मुताबिक इतनी बुरी चीज होती है कि अकबर की आज्ञा से लोगों का धर्म भ्रष्ट करने के लिये उसमें सूअर का मांस मिला दिया गया। अकबर का लड़का मुराद बहुत शराब पीता था। इसलिये दक्षिण में फौज का प्रशासन ढीला पड़ गया था। दूसरा लड़का दानियाल भी बहुत शराब पीता था। अकबर ने आदमी तैनात कर दिये थे ताकि शराब दानियाल तक न पहुंच पाये। परन्तु सिपाही बन्दूकों की नाल में शराब भरकर उस तक पहुंचा देते थे। सलीम ने अकबर के खिलाफ इलाहाबाद में षड्यन्त्र रचा, इस पर बादशाह ने उसे जनाने में नजरबंद कर दिया और दस रोज तक शराब और अफीम दोनों बंद करवा दी। जहांगीर ने स्वयं शराब पीने की आदत के बारे में नि.संकोच अपने रोजनामचे में लिखा है कि सत्रह वर्ष की आयु में उसने पीना शुरू किया और यहां तक पी कि उसे शराब का नशा ही नहीं होता था। उसके बाद कई बार खींची हुई शराब को पीने से उसे नशे का असर होने लगा।

बीस से तीस वर्ष की आयु तक वह दिन भर में बीस प्याले पीने लगा। हकीम वैद्यों ने बताया कि इतनी अधिक पीने से छः महीने में उसकी मृत्यु हो जायेगी। तब डर के मारे दिन भर में उसने छः प्याले कम कर दिये और चौदह बेर के तौल के बराबर अफीम खाने लगा। पीने के बाद वह बहुत निर्दयी हो जाता था। वैसे वह बहुत खुश मिजाज और शरीफ था। सर टामस रो ने जहांगीर के राज्यकाल का जिक्र किया है कि दरबारी लोग उसके साथ बहुत देर रात तक इतनी पीते थे कि बत्तियां बुझा देने के बाद लोग वहीं पर लुढ़क जाते या लड़खड़ाते अपने घर जाते थे। जहांगीर जैसा जिंदादिल बादशाह कोई नहीं हुआ जिसने स्वयं शराब का प्याला हाथ में लिये सोने के सिक्के ढलवाये और चालू करवाये। ये सिक्के तवारीख में अमूल्य और महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। जहांगीर ने मरने के वक्त भी शराब पी। सन् 1627 में 28 अक्टूबर को जहांगीर बीरम कल्ले से थेने और थेने से राजोर (पंजाब) गया। वहां शिकार किया। पहर दिन रहे कूच किया। रास्ते में प्याला शराब मांगी। ज्योंही मुंह से लगाई, धड़ाम से उल्टा आ पड़ा। दौलतखाने में पहुंचने तक यही हालत रही। रात मुश्किल से कटी। सवेरे कई सांस बमुश्किल आई और साठ वर्ष की आयु में इस मुगल बादशाह, नूरजहां, की बज्म में रहने वाले और हिन्दुस्तान में शराब की मिसाल कायम करने वाले नूरुद्दीन मोहम्मद जहांगीर का प्राणांत हो गया।

फारसी और उर्दू शायर हाफिज निजामी, गालिब, जौक, जिगर, दाग, जोश और फिराक ने शराब पर खूब लिखा है। यहां तक कि जाहिद और सूफियों को भी एक चुल्लू पिला कर ईमान खराब कर दिया है। सूफियों ने तो शराब के नशे की समता भगवान के प्रेम से कर डाली।

मुगल साम्राज्य के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जरिये अंग्रेजी शराब इस मुल्क में आई। ऊंची टोपी, लम्बा कोट पहने, गले में मफलर लगाये, तंग पाजामे पहने अंग्रेजी सिपाहियों की बाजू में हाथ दिये घेरदार चुन्नट वाली, फ्राक और तंग आस्तीन के लो कट ब्लाउज पहने मेमों के हाथ में शराब के प्याले नजर आने लगे और उनके छलकते जामों में दिखने लगे हिन्दुस्तान के राजा-रईसों, नवाबों और जमींदारों के मजलिसों के रागरंग। शराब की मस्ती भरी मेमों की नकली खिलखिलाहट ने राजा-रईसों को इतना निकम्मा और काहिल बना दिया कि वे बाल डांस के लिये अपना हाथ भी उनके हाथ में देकर खड़े नहीं हो सके। आज उन्हें शराब मयस्सर भी नहीं होती, परन्तु आजादी हासिल किये हुए नए फिरके के लिये, जो लोगों को चरित्रवान बताता है, समाज सुधार की गठरी बगल में दबाए फिरता है, शराब की कोई कमी नहीं। हिन्दुस्तान गंगा-यमुना का देश नहीं, उन डिस्टलरीज का देश है जहां से शराब की नदियां बहती हैं। यह वह देश है जहां अब गली-गली और कूंचे-कूंचे में हैवर्ड्स, रम और जिन के साइन बोर्ड रात के अंधेरे में चमचमाते हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का यह बेहतरीन उपहार, जो देश की आर्थिक समस्या का ताबीज है हर आदमी के गले में लटका हुआ है। अनुचित भी नहीं है जब गुप्त युग के स्वर्णिम काल में मदिरा गोष्ठियां होती थीं तो अब तो देश अर्थ और राजनीति के मजबूत चबूतरे पर खड़ा है। अब क्यों न उपदेशकों के प्रचार को धक्का देकर लोग शहर से दूर, सूनी जगहों में जाकर पीयें, जहां सुबह आवारा और बेकार लोग रात को खाली की हुई शराब की बोतलों को इकट्ठा करते हैं और फिर भरकर दूसरी फितरत भरी रात के लिये वापस वहीं पहुंचा देते हैं।

□

केश विन्यास

स्त्री-पुरुषों के केश विन्यास और सज्जा देख-देखकर आज हम आश्चर्य करते हैं। किसी स्त्री ने सामने से सारे बाल काटकर ललाट की भौंहों तक ढक लिया है, जिसे साधना कट बोलते है। किसी ने ऊंचा जूडा बना रखा है। किसी ने बाल खोलकर पीठ पर छितरा लिये हैं जो नितम्बों तक झूलते हैं। किसी ने कंधे तक बाब कट करवा लिया है। जब आंखों पर आये बालों को हटाने के लिये आधुनिक किशोरियां झटका देती हैं, सारे पुरुष उनके कदमो में चित्त नजर आते हैं। कही छटा दिखाई देती है "पोनीटेल" की तो कहीं बनी ठनी जैसी जुल्फें कान के बगल मे बल खायी हुई नजर आती हैं। बाब कट कटवा कर लड़कियां लड़का बन जाना चाहती हैं। कहीं वेणी छोटी होती है, तो नकली बाल लगाकर उसे लम्बी बनाई जाकर घुटनों से नीचे तक झुलाई जाती है। कभी-कभी बालों में घुंघरियां भी डाली हुई नजर आती हैं। यदि चोटी को कंधे से होकर वक्ष पर डाल ली जाय तो कवियों की नागिन वाली उक्ति बहुत सही नजर आती है। उनकी नजर की दाद देनी पड़ती है। पैंड़ लगाकर बालों को ऊंचा करने की प्रथा करौली और हरियाणा में प्राचीन काल से चली आ रही है जिसका अनुसरण आधुनिक महिलाओं ने किया है।

पुरुषों के बालो के ढंग आज के युग में कई प्रकार के देखने को मिल जाते हैं। बालों मे तेल डालने या कंघी करने का रिवाज तो लगभग समाप्त ही हो गया है। किसी ने बालों को पीछे से बढ़ा लिया है तो किसी ने उल्टे काढकर आगे की लटों को क्रास कर दिया है। किसी ने लार्ड क्लाइव स्टाईल रखकर पुराना जमाना वापस लाकर रख दिया है। कोई बालों के स्टाइलों से शेक्सपियर बन जाना चाहता है तो कोई हीरो। बेल बाटम, कुरता और गर्दन के पीछे बाल तो कभी-कभी लड़के और लड़की के भेद को भी गुमराह कर देते हैं।

एक समय था जब ज़ीरो नंबर की मशीन से गर्दन की छिलाई की जाती थी और कानों के ऊपर का घुमाव उस्तरे से सफाई के साथ कटवाया जाता था। लम्बे पट्टे रखकर बीच में से गली कटवाई जाती थी, या बीच में पान तराश दिया

जाता था । बाल कटवाकर भी बीच मे गली रखवायी जाती थी । बाल अगर बढे हुये अस्त-व्यस्त हो और मूंछें गिरी हुई हों तो आधुनिक व्यक्तित्व में और भी निखार आ जाता है और पागल किंग नीरो जैसी शक्ल लगने लगती है ।

यह सब जो कुछ भी उलट फेर है, पुराने जमाने का अनुकरण है । नया कुछ भी नहीं है । जमाना हमेशा तबदीली चाहता है इसलिये जो मौजूदा है उसे मिटाकर इंसान पुराने पर और पुराने से फिर नये पर आ जाना चाहता है । प्राचीन चित्र, मूर्ति एवं साहित्य के द्वारा पता चल जाता है किस युग मे केश विन्यास का इतिहास किस प्रकार बना-बिगड़ा ।

इंसान जब गुफाओं मे रहता था और बिल्कुल जंगली था, उस वक्त भी पत्थरों के औजारों से ही सही, अपने बाल काटता था । गुफाओं मे रहने वाले आदि पुरुष के कई चित्र हमें गुफा चित्रों मे देखने को प्राप्त होते हैं जिसमें उसने बाल पट्टों की तरह काटकर छोटे कर रखे हैं और स्त्रियां प्रारम्भ से ही लम्बे बाल रखने की शौकीन हैं । सबसे पहले मोहनजोदड़ो, हड़प्पा में हमें एक ढाढ़ी वाले संभ्रात पुरुष के सिर के बाल देखने को मिलते हैं, जिसमें बीच मे से मांग निकाल कर सोने का फूल लगाकर पट्टीदार आभूषण सिर में पहन रखा है । एक प्रसिद्ध कांस्य नर्तकी के सिर पर जूड़ा देखने को मिलता है जिससे पता चलता है कि पांच हजार वर्ष पहले से ही जूड़ा बनाने का रिवाज था । काली बंगा की खुदाई से प्राप्त टेराकोटा में भी एक पुरुष के सिर पर बाल देखने को मिलते हैं । बाल रखना खूबसूरती में दाखिल था—शृंगार का सूचक था । इसलिये हजारों वर्ष पहले से मनुष्य ने बाल रखना चालू कर दिया था । बिना बाल वाला सिर अशुभ माना जाता है इसलिये किसी के मरने पर बाल कटवा दिये जाते हैं । ब्राह्मण, जैन, बौद्ध साधु और भिक्षु अपने सिर के बाल घुटाये रखते हैं, ताकि शृंगारिक प्रवृत्तियों से वे अपने को दूर रख सकें ।

हड़प्पा की मातृका मृण्मूर्ति के बालो की सजावट आश्चर्यजनक है । सिर के दोनों तरफ दो प्याले जैसे घुंघराले बालों से लपेटे हुये हैं । दोनो तरफ बालों के लच्छे को बांट कर कधों पर डालने की भी प्रथा थी । तृतीय शती ईसा पूर्व मौर्य काल की मातृका मृण्मूर्ति के सिर के दोनों तरफ बालों के बड़े-बड़े जूड़े लटक रहे हैं जिन पर बोरले जैसे जेवर बंधे हुये हैं । दीदार गंज की (प्रथम शती ई. पू.) चामर धारिणी के बालों पर आगे एक गुमटी सी दिखाई देती है । शुंग काल में द्वितीय शती ई. पू सिर के दोनों तरफ बालो के बड़े-बड़े दो जूड़े बनाने—उन पर आभूषण पहिनने और चोटिया सामने की ओर लपेटने का रिवाज था । सिर के एक तरफ लटकता जूड़ा भी बनाया जाता था जिस पर बड़ा, छोटा और उससे भी

छोटा बालों का गुम्भट एक दूसरे पर रखा होता था। मथुरा संग्रहालय और राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली के संग्रह से शुंग काल द्वितीय शताब्दी ई. पू. की अनेक मृण्मूर्तियों से बाल बनाने की नाना विधियों का पता चलता है।

माया के स्वप्न वाले दृश्य के आयताकार फलक से पता चलता है कि चोटियों के वट सिर के दोनों तरफ ऊपर के जूड़े पर एक दूसरे को पार करते हुये चोटया लपेटने की प्रथा थी। पुरुष गर्दन तक पट्टे रखते थे और पगड़ी के ऊपर होकर जूड़ा बनाते थे। भरहुत के स्तम्भ पर यक्षी (कलकत्ता म्यूजियम) के देखने से प्रतीत होता है कि बीच में मांग निकाली जाकर बालों के लच्छे कधों तक पड़े रहते थे जिन पर गण्डेदार जेवर भी बल खाये लिपटे रहते थे। सिर पर बीच की माग के दोनों तरफ एक दूसरे को पार करती हुई सोने की पट्टियां सिर को ढके रखती थीं। तीन और चार-चार चोटियां रख ली जाती थीं। शुंगकालीन अवशेष से प्राप्त नारी की छोटी-सी प्रतिमा (जयपुर-संग्रहालय) मे स्त्री ने पगड़ी पहन रखी है और दो चोटियां भी देखने को मिलती है। पीतल खोरा का यक्ष, जो सिर पर पात्र लिये है, के सिर पर दो कतार बालों में घुंघरियां पडी हैं। पीतल खोरा से ही दम्पत्ति और परिचारक की प्रतिमा मे बालों की सजावट ऐसी है, जैसे फूलों के गजरे एक तरफ से दूसरी तरफ सजा रखे हैं।

गांधार युग में पुरुष घुंघराले बाल रखते थे जो दोनों तरफ लटका दिये जाते थे। एक रिबन भी सामने ललाट के ऊपर बांध लिया जाता था।

कुषाण काल मे दोनों तरफ की पट्टिकायें बनाकर उनके ऊपर से एक पट्टी पीछे ले जायी जाती थी। पुरुष उल्टे बाल काढकर बालो को कधे तक लटका लेते थे। मथुरा की पिंजड़ा लिये यक्षी और कलकत्ता म्यूजियम की कुषाण कालीन यक्षियो को देखने से प्रतीत होता है कि बाल बहुत अच्छे नही रखे जाते थे, बल्कि गूंथकर सिर को चपटा कर लिया जाता था, जिससे शरीर के अनुपात मे सिर छोटा लगता था। कुषाण कालीन शराब पीकर मतवाली हुई एक स्त्री (राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली) के बालों की बनावट के तो कहने ही क्या? बालो को खुला रखकर पीठ पर लटकता हुआ एक तरफ जूड़ा बनाया हुआ है। पुरुष भी इसी प्रकार के बाल बनाते थे।

गुप्त काल तो केश विन्यास के लिये जगत् विख्यात है। उस युग मे केशों के बनाव शृंगार के लिये जितनी प्रक्रियाएं की जाती थी उनसे प्राचीन साहित्य भरा पड़ा है—गुफा चित्र तथा प्रतिमायें उनके प्रमाण हैं। पांचवीं शती के उड़ते हुये गंधर्वों में स्त्री और पुरुष दोनों के बालों की सजावट बड़ी रोचक है। पुरुष के

दोनों कंधों पर घुंघराले "विग" जैसे बाल पड़े हैं और मुकुट के ऊपर गुम्बद जैसे जूड़े में घुंघरियां पड़ी हैं। बौने सेवकों के बाल देखने से विदित होता है कि जूड़ा बहुत बड़ा होता था। घुंघरियां सिर के नीचे कंधे पर लटकते बालों में डाली जाती थी ताकि बाल बिखर कर सामने ललाट पर न आयें। मांग में होकर शीश फूल के मोतियों की लड़ी पीछे तक गयी है। विग शायद नकली बाल लगाकर बनाते होंगे अन्यथा असली बालों से इतनी भारी लच्छियां डाला जाना संभव नहीं था।

चित्रकला द्वारा भी केश विन्यास के बारे में काफी पता चलता है। अजन्ता में महाजनक जातक गुफा में स्त्री-पुरुष दोनों के बाल एक से ही दिखाई देते हैं। मुकुट के नीचे से बालों की लड़ियां ललाट पर लटक रही हैं और खुले बाल कंधे तक झूल रहे हैं। स्त्रियों के जूड़े दिखाई देते हैं। शृंगाररता रानी अलबत्ता मुकुट पहने हुई है। एक चित्र में एक परी ने पगड़ी पहन रखी है। पता चलता है कि स्त्रिया भी पगड़ी पहनती थी। गुप्त युग में बहुधा कुरंटक का बना शेखर पहनते थे। बासंती, कुंद और कुरटक के फूल माथे पर सजाये जाते थे। चोटी में अशोक के फूल लगाये जाते थे। स्त्रियां चुटीलों में मणि, मोती और सोने का गहना पहनती थी। नाना गंधों से अधिवासित तेल का उपयोग किया जाता था। त्रिफला, गोलरू और लोहे के चूरे से बने खिजाब का प्रयोग किया जाता था। केशों में धूप देने की प्रथा थी। एक विशेष पर्व मनाया जाता था, जिसे "अशोकोत्तसिका" कहा जाता था। इस अवसर अशोक के फूलों से ही सिर के गहने बनाये जाते थे।

"कोकिल केश पाश" एक विशेप विन्यास होता था जिसमें सिर के ऊपर किसी रेशमी वस्त्र को गहुरी के रूप में लपेटकर उसके भीतर केशों की वेणी ऊपर को निकालती हुई बनाई जाती थी। कुषाण और गुप्त दोनों ही युगों में एक ही प्रकार के केश विन्यास का प्रचलन था। स्निग्ध, सुकोमल, घुंघराले, महीन तथा काले बालों को सुन्दर समझा जाता था। जूड़ों में प्रियंगु, मंजरियां और नव मालिका लगाकर कामिनियां बाहर निकला करती थीं। कपूर, कस्तूरी और अगर की खुशबू से केशों को सुवासित किया जाता था। कालिदास ने ग्रीष्म ऋतु में स्नान-काषाय-वासित केशों का उल्लेख किया है और वर्षाकाल में पुष्पावतस से ही सुन्दरियों के केशों का सुगंधित होना बताया है।

प्राचीन काल में नाना प्रकार के जूड़े और चोटियां बनायी जाती थीं, जिनका प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है। वेणी-वीर ग्रंथि, कुन्तल, कुशग्रंथि, ब्रह्म ग्रंथी, गुम्फित, लम्बित, अग्रज नाना प्रकार की चोटियों के नाम हैं। साहित्य में वर्णित केश-विन्यास प्राचीन प्रतिमाओं और चित्रों में ज्यों का त्यों प्राप्त होता

है। राजस्थान में गुर्जर प्रतिहार स्मारक आभानेरी और ओसिया (6-8वीं शती) की प्रतिमाओं में केश विन्यास के अनूठे उदाहरण देखने को प्राप्त होते हैं। ओसिया में हरिहर मंदिर की गंगा के ललाट पर घुंघरियां और कंधे पर लटकता हुआ जूड़ा देखने को मिलता है। सिर पर शीशफूल और बटदार पगड़ीनुमा सजावट है। मण्डोर (जोधपुर सग्रहालय–5-6वीं शती) के पुरुष सिर पर भी मुकुट के नीचे और बगल में भी कानों के ऊपर घुंघरियां देखी जा सकती हैं।

पाली के विष्णु मुकुट में से बिन जैसी लच्छियां दोनों तरफ निकली हुई हैं। केश विन्यास निरत स्त्री के जूड़े में स्वर्ण फूल और मोतियों की लड़ियां सजी हैं। नीलकण्ठ राजौरगढ़, अलवर में स्त्री के सिर के बालों की पट्टियों मे पानी जैसी लहरें दिखाई देती हैं। सिर के बीच में शायद जालीदार आभूषण हैं जिनमें से मोतियों की लड़ें लटक रही हैं और फूल भी शोभित हैं। खजुराहो की चंदेल कला की उत्कृष्ट प्रतिमाओं में पत्र लेखा और गेंद से खेलती षोडशी के बालों में राजौरगढ़ नारी सिर से साम्य दिखाई देता है।

राजस्थान में मैथली की आलिंगनबद्ध दम्पति प्रतिमा (सिसोदिया महल, जयपुर) मे स्त्री के सिर का विन्यास भी राजौरगढ़ और खजुराहो प्रतिमाओं से मिलता-जुलता है। केश विन्यास के नाना प्रकार और विधियां 12वीं शती तक अनूठे से अनूठे प्राप्त होते हैं। उसके बाद मूर्तिकला में ह्रास आ गया। इस कारण से कलाकार की उद्भावना और नारी सौंदर्य की कल्पना मे भी शिथिलता आ गयी। केश विन्यास की विधियो में भी प्रमाण सिर्फ चित्रकला द्वारा ही प्राप्त होते हैं। मुगल युग में पर्दे का रिवाज हो गया था, सिर को स्त्रियां खुला नहीं रख सकती थी इसलिये तरह-तरह के जूड़े वगैरह तो रखे नहीं जा सकते थे। अलबत्ता चोटियो मे और सिर के आभूषणों में कीमती जवाहरात लगाने की प्रथा चल पड़ी। सिर में रेशम की बारीक जाली भी लगायी जाती थी, जो दिखाई भी नहीं देती थी हां बालो की सुन्दरता के वर्णन में शायरो ने खूब कल्पनाएं कीं।

नवाब वाजिद अली शाह जैसे जुल्फो के आशिक दुनिया मे बहुत कम हुये हैं, जिन्हें अंग्रेजो ने कलकत्ते मे कैद कर लिया और वे अपनी एक खूबसूरत बेगम के गम मे, जो लखनऊ मे रह गयी थी, कैद में भी डिबिया मे बंद, काटकर लायी गयी उसकी जुल्फो को देखकर उसकी याद को ताजा कर लिया करते थे। वाजिद अली शाह कितने संवेदनशील प्राणी थे, जो वृद्धावस्था मे कारावास जैसी यातनाओं मे भी जुल्फों के माध्यम से प्रेम के महत्व को समझते थे। प्रेमिका के लम्बे बालों की उपमा अंधेरी रात से, सावन की घटाओं से दी जाती है जिसमें सुन्दर मुख चन्द्रमा जैसी छटा देता है।

राजपूत काल मे चोटी गूंथने का रिवाज अधिक था, जो गर्दन से काफी दूर कसकर बांधी हुई होती थी। माथे में पाटिया पाड़ी जाती थीं और बालो को गोद या मोम से चिपकाया जाता था। बालों में फलियां भी कानो के बगल मे गूंथ कर बनायी जाती थी। चोटी के गूंथन के बीच-बीच मे पट्टी भी ऊपर से नीचे तक डाली जाती थी जिसमें चोटी की खूबसूरती काले के विरोध मे सुनहरी बनकर गजब ढा देती थी। बालों को कंधे तक रखा जाकर उनकी नोकों को इकट्ठा कर उनके सोने के बारीक पोलों में पिरोया जाता था, जिसमें वे एक कतार मे बड़े खुशनुमा मालूम होते थे। ललाट पर सामने बालों के बीच से मोतियों का झूमर लटकाया जाता था। बालों के कंधे पर लटकने वाले गुच्छों पर जवाहरात में जड़े फूल टांगे जाते थे। माथे के बीच से लेकर कान तक दोनो तरफ सोने के फूलों की कतार लटकायी जाती थी। स्त्रियों के लम्बे बाल होना ही हमेशा से सुन्दरता का प्रतीक माना जाता है ताकि उन्हें तरह-तरह से बल देकर जूड़ा बनाकर उलटकर कंधे पर डाला जाकर खूबसूरत बनाया जा सके।

बाल हमेशा से सुन्दरता के प्रतीक माने गये हैं और शायद माने जाते रहेंगे और उन्हें तरह-तरह से सजाने की प्रवृत्ति भी नाना रूप बदलती रहेगी।

☐

रंग-विधान वेश-भूषा में

आदिकाल में सूरज की दहकती हुई पीली रोशनी ने आदि मानव को स्तम्भित कर दिया होगा। ज्वालामुखी से निकलते हुए लपलपाते लाल-पीले ढुलकते रंगों ने उसे शायद भयभीत किया हो। रेगिस्तान की रेत के अथाह पीले और बर्फ के सफेद रंग ने भी उसे कुछ सोचने को विवश किया हो। रात के अन्धेरे में उसे भयातुर किया होगा। परन्तु प्रात:काल के प्रकाश से वह आश्वस्त हो गया था। पेडों के लहलहाते पत्तों के हरे रंग और कल-कल करते नदियों के जल के नीले रंग ने उसे आल्हादित किया होगा। उस समय मानव नग्न अवस्था में घूमता था। परन्तु फिर भी प्रकृति ने उसे सबसे पहले रंगों का ज्ञान दिया। जिस रंग का जो प्रभाव पड़ता था, उसे मानव ने उसी रूप में अपने लिये सहज ही स्वीकार किया होगा ऐसा लगता है।

आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के सुदूरवासी प्राणी जो आदिकालीन मानव से आज भी साम्य रखते हैं अपनी नग्न देह पर नाना प्रकार के रंगों की रंगसाजी शौकिया करवाते हैं। यह तथ्य इस बात की तरफ ध्यान आकर्षित करता है कि मानव को रंगों से सहज रूप में ही लगाव है। कालान्तर में मानव ने सामाजिक प्राणी होकर कपड़ों को प्राकृतिक रंगों के अनुकूल रंगकर पहनना शुरू कर दिया। लाखों साल बाद सभ्यता और प्रगति के झूले में झूलते हुये मानव की मन: स्थिति आज भी रंगो के लिए लगभग वैसे ही है। रंगों मे वह तरह-तरह के चमत्कार पाता है और अपनी सन्तुष्टि के लिए वह उनका प्रयोग परिधान या वस्त्रों पर अनुमन करता आ रहा है, क्योंकि वस्त्र उसके धारण करने की अब सबसे अधिक आवश्यक वस्तु बन चुकी है।

परिधान या वस्त्रों में रंगों के चुनाव कुछ सिद्धान्तों पर आधारित हैं उन्हीं के अनुरूप मानव ने उन्हें काम में लिये हैं। रंगों की उत्पत्ति प्रकाश से होती है। सूर्य प्रकाश का सबसे बड़ा स्वरूप है। सूर्य के प्रभाव से जो वस्तु जिस प्रकार की होती है वह वैसी ही दिखाई देती है और जैसे ही प्रकाश का लोप होता है वस्तु किसी प्रकार की भी हो काली दिखाई देती है।

मुख्य रंग तीन प्रकार के होते हैं यथा पीला, नीला और लाल। सित और असित इन्हीं तीनों के विकार हैं। तीन रंगों से नवरंग बन जाते हैं और नव से अनेकानेक रंगों का विज्ञान हमारे सौर मण्डल से भू-मण्डल तक व्याप्त है। तीन रंगों की कल्पना से ही तीन गुण सत, रज और तम त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश। त्रिकाल प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या तथा तीन आयु शैशव, युवा और वृद्ध अपना प्रभाव प्रकट करती है। पीला रंग शिशुता का द्योतक, लाल युवावस्था का और नीला वृद्धता का प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार प्रात: पीला, मध्यान्ह लाल और सन्ध्या नीले रंग के सूचक होते हैं। सत्व पीला, रज लाल और तम नीले रग का परिचायक होता है। सित शान्त और असित भयानक का प्रतीक है। पांच तत्वों के पांच रंग हैं, अग्नि का लाल, पृथ्वी का पीला, वायु का काला, आकाश का नीला और जल का सफेद। इसी प्रकार ग्रहों के रग हैं, शनि का नीला, सूर्य का लाल, वृहस्पति का हल्का पीला, चन्द्र का सफेद, राहु का काला, शुक्र का हल्का नीला और बुद्ध का हरा। लाल रजोगुण प्रधान, नीला तामस गुण प्रधान तथा पीला सात्विक गुण प्रधान होता है।

रंगों की विविधता सप्त रंगो में हमें इन्द्र धनुष या सूर्य किरणों मे दिखाई देती है। प्रारम्भिक तीन रंग प्राकृतिक है और किसी रंग के मिश्रण से नही बनते। लाल, पीला मिश्रित होकर नारंगी रंग को जन्म देता है। पीला और नीला हरे रंग को, लाल, नीला मिलकर बैंगनी रंग को बनाता है।

शरीर रचना के सिद्धान्त के अनुसार नेत्रों को लाल, नीला, पीला और हरा चार रंग विशेषतया दृष्टिगत होते हैं। अत: चार रग भी माने जाते हैं। पीले रंग से विरक्ति होती है, काले रंग से भय उत्पन्न होता है। लाल रंग राजसी रग है, जो कि प्रेम का सूचक है साथ ही तेज बल और वीरता का भी द्योतक है। नीला स्वच्छता एवं शांतिदायक रंग है। हरे रंग से हर्ष और निश्चिन्तता का ज्ञान होता है। गहरे रंग सदैव शक्ति, प्रतिष्ठा का बोध कराते हैं। रंग अगणित हैं जो एक दूसरे के मिश्रण से बन जाते हैं।

रंग विरोधी और निकटवर्ती दोनों ही होते हैं जिनके अलग-अलग प्रभाव होते हैं। एक रंग से दृष्टि को जो उद्विग्नता मिलती है उसके विरोधी रंग से विश्राम मिलता है। रंगों से कोई भी छोटी वस्तु बड़ी और बड़ी वस्तु छोटी दिखाई देने लगती है। शोख रंग युवावस्था के द्योतक हैं और उनके प्रयोग से वृद्धि भी युवा का भास देता है। सफेद मटमैले, काले कपड़ों से युवा भी प्रौढ़ लगता है। रगों का प्रभाव देश, काल तथा ऋतु के अनुसार भी होता है। मानव ने इन रंगों का प्रयोग,

परिधान और वेश-भूषा में, इन्हीं उपरोक्त सिद्धांतों के अनुसार वर्षों के अनुभव से किया है। रंगों के यह सिद्धान्त अटल हैं पर मान्यताओं में उलटफेर होते ही रहते हैं कपड़ों के रंगों के चुनाव में सिद्धान्तों का प्रयोग करें या न करें। हरा रंग प्रफुल्लता का सूचक है, तो कहीं शोक का। काला रंग कहीं शोक का प्रतीक है, तो कहीं गंभीरता और प्रतिष्ठा का। पीला रंग कहीं वैराग्य का द्योतक है तो कहीं बसन्त मे प्रफुल्लता का।

लाल रंग एक स्थान पर राग का सूचक है, दूसरी तरफ बल और वीरता का भी। गहरा नीला भय का द्योतक है तो स्वच्छता और शांति का भी। वस्त्रों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे झांका जाये तो 5000 वर्ष पूर्व से 800 वर्ष पूर्व तक मानव पुष्ट नंगे बदन पर अधोवस्त्र और उत्तरीय पहन कर जिनमें पीले और सफेद रंग की प्रधानता होती थी, अपनी परिधान प्रियता की संतुष्टि कर लेता था। क्योंकि उन दिनों नग्न शारीरिक बल का प्रदर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा होगा। स्त्रियाँ भी अल्प परिधान में सौन्दर्य प्रदर्शन करना ही उचित समझती थीं। प्राचीन मिट्टी के खिलौने से ज्ञात होता है कि मौर्य काल में नग्न सौन्दर्य ही महत्त्वपूर्ण माना जाता होगा। शुंग काल की स्थिति भी प्राचीन प्रतिमाओं से ही जानी जा सकती है। जिनमें पुष्ट, नग्न सौन्दर्यता का ही प्रदर्शन मात्र है। परिधान के लिए मणिमेखला ही प्रायः सभी प्रतिमाओं में उपलब्ध होती है। शरीर और वक्ष खुला हुआ ही देखने को मिलता है। कुषाण काल में स्त्रियां भी उष्णीष पहनती थीं और वक्ष खुला रखती थी। यह महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राचीन अवशेषों के आधार पर मिलती है।

गुप्तकाल में अवश्य वस्त्रों और रंगों के विधान की आवश्यकता पड़ी क्योंकि सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। अजन्ता, बदामी तथा बाघ की गुफा चित्रो से अवश्य हमें नाना प्रकार के रंगों के वस्त्रो की जानकारी मिलती है। सुरा पान करते हुए युग्म के कपड़े आजकल के मिनी स्कर्ट के समान दिखाई देते हैं। राजकुमारी के चित्र में भी नाना रंगो वाली पगड़ी देखने को मिलती है। पता यह चलता है कि मिस्र के कपड़े और भारत के पट्टीदार कपड़े आपस मे साम्य रखते थे। कारण हो सकता है कि मिस्र के भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। स्त्रियों के अधोवस्त्र के सुनहरी पल्ले स्कंधों पर होकर नीचे लटकते रहते थे। ग्यारहवी से 15वी सदी के जैन शैली के कालकाचार्य कथा, कल्प सूत्र, नेमिनाथ चरित्र ग्रंथ चित्रों द्वारा पता चलता है कि स्त्रियां श्वेत साड़ियां पहनती थी जिन पर ज्यामितिक भांतें बनी होती थी और पल्ले सुनहरी होते थे।

पुरुष, उत्तर पश्चिमी हूण, शक सभ्यता के प्रभाव के कारण लम्बे कोट, पैजामे, मोजे और जूते पहनने लगे थे। यह प्रभाव कुषाण काल से ही प्रारम्भ

हो गया था। रंगों का वैविध्य उनमें नहीं रहा होगा क्योंकि हूण, मंगोल, शक सभी विजेता जातियां बर्फीले इलाकों से इस देश में आये थे। जिन देशों में प्रकृति के रंगों में प्रखरता नहीं होती वहां प्राणियों के वस्त्रों के रंगों में भी प्रखरता नहीं होती। वे वस्त्र, शरीर को, नाना रंगों से सजाने के लिए नहीं, शीत से ढकने के लिये होते थे।

मध्य युग में उत्तर पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से ही पठान और मुगलों के, इस देश में स्थाई हो जाने के कारण, वेश-भूषा में परिवर्तन हो गया। शरीर को ढकने के स्थान पर जामे, पाजामे, अबावे, कुलाह, तनजेव, मुकय्यश, मुशज्जर, शलवार और कमरबंद ने नाना रंगों में पुरुष के सौन्दर्य को आवेष्ठित कर लिए। वह एक हाथ में तलवार और दूसरे में फूल सूंघता हुआ चलता तो पगडी के चिल्ले चमचमा जाते, कमरबंद के जरी के, पल्ले आंखों को चौधियां देते, रेशम और मिसरू की रंगीन पट्टीदार जामों के पल्ले घुटनों पर टकराकर झूलते तो मानव का राजसी वैभव रंगों में बहता हुआ नजर आता। बेगमों का शरबती सौन्दर्य ढाका की सफेद मलमल, तनसुख और डोरियों में से उमड़ता हुआ नजर आता था। जरी, गोटा, बाफता और जवाहिरातों के जड़े हुए कपड़ों की चमक-दमक में उनका सौन्दर्य और अधिक निखर जाता। उसके बाद काले सूटों के आगोश में सफेद चुस्तदार कालर और मेरदार लांग स्कर्ट वाले बाजू शराब की मदहोशी में झूलते नजर आने लगे। रंगों का वैविध्य पुनः काले और सफेद में परिवर्तित हो गया। मदहोशी में झूलते अंग्रेजों की नकल में हिन्दुस्तानी भी उसी परिधान में झूल गये। पश्चिम की बर्फ की सफेदी में काले रंग के परिधान भी रंग विरोध द्वारा आकर्षण पैदा कर सकते थे। सुनहरे रंग से प्रकाशित इस भूमि पर लोगों ने काला रंग चढ़ाया जिसका छुटकारा गुलामी में टाई से फंसी हुई गर्दन से अभी-अभी हुआ है।

चिलचिलाते हुए रेगिस्तान की लपलपाती धूप में गहरे रंग के लाल, नीले, पीले, हरे परिधान में अंगारे सी दहकती जवानी और कमनीयता और अधिक आकर्षक हो जाती है। राजस्थानी घाघरे (लहगे) ओढ़नी की वेश-भूषा में ही रंगों की महत्ता का पता चलता है जब ढेर सा रंग शरीर पर छाया रहता है। चांदनी रात में पर्यंक पर शयन कक्ष में घूंघट में छुपी हुई नवेली नवोढ़ा बहू रंजित घाट के पल्ले की गांठ छुडाकर रण भूमि में जाने वाले वीर नायक के दृश्य चित्र सामन्ती युग की याद दिलाते हैं। विवाह के अवसर पर घाट, शिशु जन्मोत्सव पर पीला, तीज-गणगौर पर लहरिया, जाड़े में स्यालू, होली पर फाग और मरते समय, चुन्दड़ी नारी के नाना जीवन स्थलों पर रंगों के कारण अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

जो रंग कभी स्त्रियों के लिए उचित समझे जाते थे वे अब पुरुषों की कमीज और बुशर्टों में काम आते हैं। लम्बे बाल और रंग-बिरंगी कमीजों ने पुरुषों

में वही कमनीयता ला दी है जो अक्सर नारियों में होती रही है। पहले शलवार कुर्ते के देशव्यापी फैशन और फिर उनके रंगों की एकरूपता की बोरियत ने चूड़ीदार पाजामे, कुर्ते, फ्राक, मिनी स्कर्ट आदि को जन्म दिया। अब कंधों तक झूलते बाल लांग स्कर्ट, बैल बाटम, मैक्सी के रंगों की विविधता नारी के स्वाभाविक रंगों को उभारने में बहुत बड़ा योगदान देते हैं। ब्लाउज, शर्ट अथवा ब्रा के विरोधी रंग मिनी स्कर्ट, मैक्सी, लांग स्कर्ट, पैजामे के रंगों के उभारने में चार चांद लगा देते हैं।

इसी प्रकार साड़ी में भी बातिक, कलमकारी, फूलकारी, प्रिन्टिंग की कारीगरियां जिसमानी रंगो को उभारने में गजब ढाने का काम करती हैं। परन्तु लगता है सभ्यता चरम सीमा पर पहुंच जाती है तो मानव वापस अपनी आदिम अवस्था के स्तर पर आ जाना पसन्द करता है। अमेरिका में कुछ स्त्रियों ने कपड़ों की मान्यता का बहिष्कार कर नग्न शरीर पर नाना प्रकार के रंग सजा कर अपना प्रदर्शन किया है। संभवतः कभी यह मानसिकता बलवती हो जाए और इसे फिर से अंगीकार कर लिया जाए। जो भी हो, वस्त्रों और रंगों के प्रति व्यक्ति की अपनी भावनाएं सदैव कुछ न कुछ नये गुल खिलाती रहेंगी।

□

शौर्य प्रतिष्ठा और शिरोवेष्टन–पगड़ी

प्राचीन काल से ही पगड़ी का महत्त्व चला आ रहा है जिसकी उपयोगिता मनुष्य ने सिर की रक्षा एवं सुन्दरता के रूप में खोज निकाली होगी। संस्कृत में पगड़ी के लिये उष्णीष शब्द का प्रयोग हुआ है एवं प्राचीन काव्यों में योद्धाओं द्वारा उष्णीष या शिरस्त्राण पहनने का प्रचुर वर्णन मिलता है। ये उष्णीष या शिरस्त्राण शिखराकार, पल्लवाकार, गोलाकार, लतावेष्टित तथा कमलकोश के रूप में वर्णित पाये गये हैं। मुकुट भी शिरस्त्राण का ही सुसंस्कृत रूप कहा जा सकता है।

पगड़ी शब्द बहुत बाद का है जिसकी उत्पति पट शब्द से हुई है। पट शब्द का अर्थ है कपड़ा। पट से पटको और पटकी का अपभ्रंश बना पगड़ी।

शुंग तथा मौर्यकालीन पगड़ियां

पगड़ी का प्राचीनतम साक्ष्य भरहुत की प्रतिमाओं में मिलता है। इनसे ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी में कसीदाकारी के कपड़े जिनमें पटके व उष्णीष मुख्य है, बुने जाते होगे। पटका कमरबन्द को कहते हैं, उसकी चौड़ाई पगड़ी की ही तरह तंग होती है। शुंग कालीन पगड़ियों में एक शिखर, दो शिखर तथा तीन शिखर के आकार की पगड़ियां अध्ययन के योग्य हैं। इन पगड़ियों के बन्धेजों की शैली से ही प्रेरित होकर स्त्री-पुरुषों में बालों के जूड़ों के अनेक विन्यास प्रचलित हो गये थे।

मौर्य एवं शुंगकालीन पगड़ियों के अनेक प्रकार प्रमाणित करते हैं कि इनके बांधने की नाना विधियां थीं। राजा व साधारण जनता की पगड़ियों मे अन्तर था। इसी प्रकार सैनिक व नागरिक एवं स्त्री व पुरुष की पगड़ियों में भी अन्तर था। उसके एक छोर को पृष्ठ भाग मे लटकाये रखने की प्रथा थी और इसे शुभ माना जाता था। इसी का आधुनिक रूप "साफा" है जिसका एक छोर पीठ पर लटकाया

जाता है। साफा समस्त बालो को ढक लेता है और ऊंचा होता है जबकि शुंगकालीन पगडी में केवल बालों के दोनों ओर बराबर हिस्सों में दो पट्टियां होती हैं जो ललाट के बीचों-बीच एक दूसरी पर होकर निकलती दिखाई देती हैं। सिर के ऊपर बाल दिखाई देते रहते हैं।

इन पगड़ियों में मौर्यकाल की पगडी राजस्थान में नोहर (गंगानगर) से प्राप्त एक प्रतिमा मे प्रदर्शित है। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी की पगड़ी लालसोट में एक छतरी के स्तम्भ की पुरुष प्रतिमा मे देखी जा सकती है। इसी प्रकार के अकन अथापुर व बीकानेर की मूर्तियो में प्राप्त हैं।

यह दिलचस्प है कि इस काल में औरतें भी पगडिया पहनती थीं। रैढ में नारी की एक मिट्टी पत्थर की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसके सिर पर पगड़ी है और पृष्ठ भाग मे दो चोटियां लटक रही है।

कल्याणपुर (मेवाड़) से प्राप्त दसवीं शताब्दी की पुरुष मूर्ति के सिर पर इतनी सुन्दर पगडी मिली है कि वैसी शायद ही अन्यत्र कही मिली हो। पुरुष के छल्लेदार बालो के ऊपर शकरपारे की भांति के पेच हैं जिनमें मोती लगे हैं, बीच मे जड़ाऊ आभूषण है, पेचो मे स्वर्ण फूल टंगे हैं तथा मोतियों की लड़ें लटक रही हैं। झालावाड़ की 12वीं सदी की अर्धनारीश्वर की प्रतिमा के अर्धभाग में शिव के सिर पर भी पगड़ी मिली है। प्राचीन चित्रो में चौरपंचासिका के सन् 1620 के प्रतापगढ़ के चित्रों में कुलहादार पगड़ियां अंकित हैं।

मुगल पगड़ियां

मुगल लोग अपने साथ गोलाकार पगड़ियां लाये जिन्हें अमामा कहते हैं। मुगल पगडियो का एक रूप चपटा होता था जो अकबर के समय में प्रचलित था। इसे अटपटी पगड़ी कहते हैं। जहांगीरकाल की पगड़ियां उक्त दोनों पगड़ियो से कुछ भिन्न थी। इस काल की पगड़ी पर एक छोटा सा छज्जा निकला रहता था। इस पगडी को जहांगीरी पगड़ी कहते हैं।

मध्यकाल मे पगड़ियों का प्रचलन अत्यधिक रहा। मुगल बादशाह भी पगड़ी पहनते थे और राजपूत, मराठे व सिख भी। इन सबकी पगड़ियां अपनी पृथकता लिये हुए थीं और इनके बांधने के ढंग भी पृथक्-पृथक् थे।

विविध रूप

मुख्यत: पगड़ी के तीन रूप थे—(1) प्रादेशिक (2) प्रान्तीय (3) स्थानीय। प्रादेशिक मे मराठी, बंगाली, खानदेशी, पंजाबी, मालवी व राजस्थानी पगड़ियों को

रखा जा सकता है। प्रांतीय में राजस्थान की जोधपुरी, जयपुरी, हाड़ौती, मेवाड़ी व करौली थी। स्थानीय में जयपुर की खूंटेदार, सिकन्दरशाही, सलीमशाही, बीकानेरी की राजशाही, अर्खशाही, उदयपुर की फतेहशाही, अमरशाही व भीमशाही पगड़ियां थीं। ये पगड़ियां जाति विशेष की भी सूचक होती थीं जैसे ऊंची पगड़ियां राजपूतों की व नीची व्यवसायियों की होती थीं।

विभिन्न रंग और अवसर

ये पगड़ियां अवसर विशेष की भी द्योतक होती थीं। यथा, जन्म के समय पीली या मोतियां, विवाह के समय मंदील जिस पर तुर्रे-कलंगी लगे होते थे, युद्ध के समय केसरिया तथा मृत्यु के समय हरी, काली व सफेद पगड़ी पहनी जाती थी। होली पर बसन्ती, तीज पर लहरिये की तथा दशहरे पर काली पगड़ी त्योहारों के विविध प्रयोग को प्रदर्शित करती थी।

इन रंगों से रुचि का भी संबंध था। यथा कलात्मक व शृंगारिक रुचि के जयपुर के लोग पचरंगी, लहरिया व मोठड़ा पगड़ियां बांधते थे। उदयपुर में लाल व सफेद रंग की पगड़ी बांधी जाती थी। पगड़ियां सोने की छपाई, जरदोजी की जिनके चिल्ले अनेक सुनहरी अलंकरण से सुसज्जित होते थे काम में ली जाती थीं जिनके ऊपर फेंटिया और सिर पेच जडाऊ भी लगाये जाते थे।

मर्यादा की प्रतीक

पगड़ी मर्यादा की प्रतीक होती थी। इसकी रक्षा सबसे बड़ा धर्म माना जाता था। पगड़ी की सौगंध खाई जाती थी और वचन को पूरा किया जाता था। मारवाड़ के वीर दुर्गादास की वीरता से सम्बन्धित एक कहावत प्रसिद्ध है—जननी सुत ऐसा जने जैसा दुर्गादास—बांध मुड़ासा राखिये बिन धरती बिन आकास।

सम्मान में सिरोपाव प्रदान करने का तो सैकड़ों जगह वर्णन मिलता है। विवाह के अवसर पर अभी तक पगड़ी को पहरावनी की प्रथा है। मृत्यु के समय भी पगड़ी बंधवाई जाती है। पिता की पगड़ी पुत्र के सिर पर रखने की विशेष रस्म अदा की जाती है जो इस बात का प्रमाण होती है कि बेटा मर्यादा कायम रखेगा। किसी के वारिस नहीं होता था तो पगड़ी खूंटी पर टांग दी जाती थी फिर वारिस गोद लेकर उसके पगड़ी बांधी जाती थी।

औरंगजेब ने सामन्तों व राजाओं की पगड़ी का मान नीचा रखने के लिये अपने महलों के दरवाजे छोटे रखवाये थे ताकि घुसते समय उनकी पगड़ियां नीची रहें। परन्तु बूंदी के एक वीर नरेश ने अपनी पगड़ी की मर्यादा कायम रखने के लिए पहले खिड़की में पांव रखा फिर मस्तक निकाला—वह भी नीचा करके नहीं।

पहले मित्रता सूचक रूप में पगडियां अदल-बदल करने की प्रथा थी। शाहजादा खुर्रम ने उदयपुर के महाराणा कर्णसिंह से पगड़ी बदली थी जो अब भी उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। इसी प्रकार नादिरशाह ने दिल्ली से चलते वक्त बादशाह मुहम्मदशाह के साथ पगड़ी अदल-बदल की थी। कहा जाता है कि नादिरशाह ने इस तरह मुहम्मदशाह की पगड़ी में छिपा हुआ कोहिनूर हीरा प्राप्त कर लिया था।

पर समय परिवर्तन के साथ आज पगड़ियों का महत्त्व अतीत के गर्भ में छिप गया है। जिन पगड़ियों के रूप-रंग को देखकर कभी दिलों में शृंगार व सम्मान की उद्भावनाएं होती थीं, आज उनमे केवल अद्भुत रस ही निहित रह गया है। आज कुछ वर्गों को छोड़कर उनका प्रयोग समाप्त सा होता जा रहा है।

□

अवशेषों में संस्कृति

पुरातत्व विज्ञान का सम्बन्ध मानव संस्कृति और कला के इतिहास से विशेष समझा जाता है। पुरातत्वीय अवशेष कुछ तो भू-तल पर प्राप्त हो जाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो भू-गर्भ में छिपे होते हैं जिन्हें पुरातत्ववेत्ता उत्खनन् के आधार पर प्रकाश मे लाते हैं। उन्हीं अवशेषों के आधार पर इतिहास का पुनर्निर्माण होता है। पुरातात्विक अनुसंधान और उनकी उपलब्धियों ने हमारी कपोल कल्पित मास्थाओं को समाप्त कर हमें इतिहास के ठोस धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया है। राजस्थान में पुरातत्व उत्खनन् अनुसंधान एवं शोध कार्य से सिन्धु घाटी सभ्यता में एक नई कडी जुड़ गयी है जिससे मोहन-जोदड़ो-हड़प्पा के पाकिस्तान में चले जाने से राजस्थान की उत्तर पश्चिमी सभ्यता के सूत्र उपलब्ध हो चुके हैं। ये सूत्र राजस्थान के दक्षिण में होते हुये गुजरात तक एक हजार मील के क्षेत्र में फैले हुये पाये गये हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप में नव प्रस्तर युग के मानव समुदाय के चिह्न 3500 ई. पू. तक के उपलब्ध हुये हैं जब उसने अन्न उपजाना, पशु पालन, बर्तन बनाना, कपड़ा बुनना, पालिशदार शस्त्र निर्माण करना सीख लिया था। इस सभ्यता के अन्तर्गत, सिन्धु नदी के किनारे पाकिस्तान में हड़प्पा, कोट-डी. जी. उत्तर में रोपड़, अहमदाबाद जिला अन्तर्गत लोथल, रंगपुर तथा राजस्थान के गंगानगर जिले में घग्घर नदी के पाट में कालो बंगा सम्मिलित है। उदयपुर के समीप आहाड़, भरतपुर के नजदीक नोह, भीलवाड़ा जिले में बागौर, जयपुर जिले में बैराठ, रैढ, नगर, साम्भर, कोटपूतली के निकट जोधपुरा, नीम का थाना के निकट गणेश्वर आदि स्थानो की खुदाइयों ने राजस्थान को प्राचीन संस्कृति व इतिहास पर प्रचुर प्रकाश डाला है।

नलियासर सांभर

जयपुर रियासत में पुरातत्व विभाग की स्थापना होने पर 1938 में नलियासर साम्भर मे, जयपुर से 85 कि. मी. दूर दयाराम साहनी द्वारा खुदाई करबाई गई जहां से प्राप्त मृण्मय मूर्तियां सिद्ध करती हैं कि वहां के प्राचीन निवासी

ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे। यह कलाकृतियां अधिकतर कुषाण कालीन एवं गुप्त-कालीन हैं। सफेद खड़िया मिट्टी के पात्रों के टुकड़े गुप्त कालीन युग की नित्य प्रति प्रयोग मे आने वाले पात्रों से साम्य रखते हैं। कुषाण व गुप्तकालीन मुद्राओं के अतिरिक्त यहां से काबुल के सम्राट डायोमिडीज की मुद्रा भी प्राप्त हुई थी। साम्भर से शुंग, कुषाण एवं गुप्त कालीन पुरा वस्तुयें भी प्राप्त हुई हैं। चौहान राजाओं के समय में वहां अद्भुत शिल्प का निर्माण हुआ जिनके उत्कृष्ट प्रमाण अजमेर व आमेर संग्रहालय मे विद्यमान हैं। साम्भर का सुराही का दस्ता जिसमे स्त्री का बस्ट बना है यूनानी विशेषता से ओतप्रोत है।

बैराठ

बैराठ के समीप बीजक की पहाड़ी की खुदाई भी दयाराम साहनी द्वारा करवाई गई थी जिसमें गोलाकार बौद्ध मन्दिर-विहार आदि के अवशेष बाहर दृष्टिगत हुये। आर्य संस्कृति की परिचायक चित्रित स्लेटी रंग के पात्रों के अवशेष भी प्राप्त हुये। यहां से मौर्यकालीन वाले चिकने पात्रो के साथ सफेद या भूरे रंग के पात्र भी मिले थे। मौर्य युगीन बड़े आकार की ईंटें भी यहा से प्राप्त हुई थीं जिन पर ब्राह्मी अक्षर उत्कीर्ण पाये गये।

रैढ

निवाई से कुछ दूर जयपुर से लगभग 80 कि. मी. दूरी पर रैढ नामक स्थान की खुदाई डॉ. के. एन. पुरी द्वारा करवाई गई थी जिसमे धातु निर्मित वस्तुयें इतनी बड़ी संख्या में प्राप्त हुई जितनी भारत के किसी अन्य स्थान से प्राप्त नही हुई। यहा से प्राप्त सीसे की एक मुहर से विदित हुआ है कि ई. पू. दूसरी शती में रैढ में मालव जनपद था। कुछ सिक्कों पर मालव सरदारो के नाम भी प्राप्त हुये हैं। रैढ की मृण्मय कलाकृतियो में बड़ी संख्या में मातृकायें हैं। पगड़ी पहने एक स्त्री की पकाई मिट्टी की छोटी-सी कलाकृति से विदित होता है कि उस युग मे स्त्रियां राजस्थान में पगड़ी पहनती थीं। रैढ से टैराकोटा भी प्राप्त हो चुके हैं।

नगर

जयपुर नगर से 80 कि. मी. दूरी पर उणियारा ठिकाने के अन्तर्गत स्थान "नगर" में भी स्वतंत्रता पूर्व खुदाई की गयी जहां से ई. पूर्व की प्रथम शती से लेकर ईसा की तीसरी शती तक के अवशेष प्राप्त हो चुके हैं। मालव लोग सिकन्दर से मुठभेड़ करने पर भागे और इसी "नगर" स्थान मे आकर बस गये। यही कालान्तर में मालव नगर कहलाया। यहां से पंच मार्क चांदी के सिक्के भी मिले हैं।

कालीबंगा

सन् 1961-62 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के निदेशक श्री थापर और स्कूल ऑफ आर्क्योलॉजी के निदेशक श्री बी. बी. लाल के नेतृत्व में कालीबंगा की खुदाई की गयी। हड़प्पा संस्कृति के अधिकांश नगरों की बनावट और नगर योजना प्राय: एक ही तरह की थी। सर्वत्र एक ही तरह की कच्ची पकाई ईंटें, मुहरें, मृद्भाण्ड, मनके, खिलौने, अन्नकरण, परकोटे, दुर्ग, नालियां, सड़कें, स्नानागार, धान्यागार उपलब्ध हुए हैं। कालीबंगा के उत्खनन् से मिट्टी के बहुसंख्यक बर्तन मिले हैं जो लाल, गुलाबी, काले, भूरे और मक्खनियां रंग के होते है। उन पर नाना प्रकार के ज्यामितिक अलंकरण बने मिलते हैं। बर्तनों के अतिरिक्त मिट्टी, पत्थर, घोंघे, हाथी दांत, धातु तथा अर्धमूल्यवान पत्थरों के मनके भी प्राप्त हुये हैं। मिट्टी के पकाये खिलौनों में मनुष्याकृतियां, बैलगाड़ियां, चिड़ियां, चित्रलिपि वाले छापे तथा ताम्बे के शस्त्र उपलब्ध हुये हैं। कालीबगा वासियों को लेखन कला का भी ज्ञान था— वे चित्रलिपि का प्रयोग करते थे जिसे अभी तक पढ़ा नहीं गया है। सिन्धुवासी एक पंक्ति में दाये से बायें और दूसरी पंक्ति में बांये से दायें हाथ की ओर लिखते थे। खुदाई से सैंकड़ों मिट्टी और चिकने पत्थर की मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं जिन पर उभरे हुये चित्र बने हैं। कालीबंगा वासी प्राकृतिक शक्तियों की उपासना करते थे। मातृ-देवी, शिव, नाग, वृक्ष, जल तथा पशु की पूजा प्रचलित थी। भारत के अतिरिक्त मिस्र, सुमेर, सीरिया, क्रीट, अफगानिस्तान, ईरान, खुरासान देशों से इनके व्यापारिक सम्बन्ध थे। भारत से कपड़ा, शृंगार प्रसाधन, मसाले, मनके, सोने-चांदी के आभूषण तथा कई प्रकार का कच्चा माल विदेशों को जाता था। विदेशों से जल और थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। वहां के लोग मिट्टी की ईंटों के मकान बनाकर रहते थे। गारे के परकोटे सुरक्षा के लिये बनाते थे। यह लोग मृतकों को हड़प्पा और रुपड़ (पंजाब) वाले लोगों की तरह जमीन में गाड़ते थे। जालीदार गिलास, आबखोरे, लोटे व कूंडे वहां से प्राप्त हो चुके हैं।

आहाड़

परीक्षण बतौर आहाड़ (उदयपुर) और भीनमाल (जिला जालोर) में उत्खनन् 1953-54 में किया गया, तदुपरान्त सन् 1954-55 में राजस्थान पुरातत्व विभाग के अधीक्षक श्री रतन चन्द्र अग्रवाल के नेतृत्व में उत्खनन् सम्पन्न हुआ। इस उत्खनन् से चालकोलिथिक, ताम्रकालीन संस्कृति प्रकाश में आई जो काले और लाल रंग के पालिशदार श्वेत चित्रित बर्तनों से जानी जाती है। आहाड़ की पुरा सामग्री का सी-14 रेडियो कार्बन प्रणाली से परीक्षण किया गया और वहां का

प्रारम्भिक स्तर 1800 ई. पू का अनुमानित किया गया। आहाड़ की खोज पुरातात्विक ससार मे एक अभूतपूर्व देन है जिसे आहाड़ संस्कृति के नाम से जाना जाने लगा है। आहाड से जो बर्तन नीचे की सतह से मिले हैं वे भीतर से अनगढ़ हैं केवल वाहर की ओर चमकाये गये हैं। आहाड़ से लाल व काले रंग की मिट्टी के लोटे, मटके, हाण्डियां, प्याले ;‹‍ ·कावी स्टैण्ड सहित प्राप्त हुये हैं जो सुदूर उत्तर पश्चिम, टेपेसियाल और टेपेहिसार की बर्तन कला से साम्य रखते हैं। मक्खनियां रग के पतले मृद्‌भाण्ड भी आहाड से प्राप्त हुये हैं जो ईरान के बर्त्तनों से मेल खाते हैं। अनुमान किया जाता है कि ईरान और राजस्थान के उस युग में सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। *आहाड़ की समस्त सामग्री वहां के स्थल सग्रहालय मे विद्यमान है।* गुजरात के रगपुर और लोथल से साम्य रखने वाले अच्छे, चमकदार बर्तन आहाड़ से प्राप्त हो चुके हैं। *समझा जाता है कि नियोलिथिक सभ्यता* वहां मौजूद थी।

नोह

भरतपुर के बहुत समीप नोह नामक स्थान पर 1963-64 में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डॉ. डेविडसन और श्री रतनचन्द्र अग्रवाल के *संयुक्त निदेशन* में उत्खनन किया गया। नोह में नीचे के स्तर से गेरू रंग के पात्र मिले है इनमें मुख्य एक दस्ता है। गेरू रग के बर्तन हरप्पा युग की पश्चात् की सभ्यता के माने गये हैं और गगा की घाटी में प्रायः प्राप्त होते हैं। इस स्तर के ऊपर, काले लाल रंग के बर्तन मिले हैं यद्यपि यह भी उल्टे रखकर पकाने वाली विधि से बनाये गये हैं। यह बर्तन आहाड़ से मिले काले लाल रंग के बर्तनों से भिन्न हैं। ज्यामितिक कला उन पर चित्रित नहीं मिलती। इस खुदाई से एक प्याला और तश्तरी भी मिले हैं। ऊपरी सतह से स्लेटी रग के मृद्‌पात्र काले रंग से चित्रित मिले हैं। मिट्टी की एक चिड़िया भी यहां से प्राप्त हुई है। शुंग कुषाण काल की सभ्यता के लक्षण यहा मोटे लाल रग के मृद्‌भाण्डो द्वारा प्रतिलक्षित होते हैं। गुप्तकालीन मृद्‌भाण्ड भी नोह की ऊपरी सतह से प्राप्त हुए हैं। गुप्तकालीन पाटरी भी नोह की ऊपरी सतह से प्राप्त हुई है।

जोधपुरा

बैराठ के समीप लगभग दस मील की दूरी पर साबी नदी के किनारे पर *जोधपुरा (तहसील कोटपूतली)*, ग्राम के प्राचीन टीले की खुदाई सन् 1974-77 तक हुई। जोधपुरा के सबसे नीचे की धरातल का समय ई. पू. 2500 से 2200 ई. सिद्ध हो चुका है। उस समय लोग यहां गेरू रंग के बर्तन प्रयोग करते थे और उत्कीर्ण मृद्‌भाण्ड भी। यहा से लोहा गलाने की भट्ठी भी 1000 ई. पू. की प्राप्त हुई है जो पुरातत्व को अनुपम देन है। पुराविदों ने इस संस्कृति को "जोधपुरा

संस्कृति" संज्ञा देना स्वीकार कर लिया है। यह संस्कृति साबी नदी के किनारे यमुना तक पर्याप्त मात्रा में विकसित हुई क्योंकि इसका सम्बन्ध उत्तरी पश्चिमी ताम्र सभ्यता से सर्व विख्यात है।

बागौर

जिला भीलवाड़ा में बागौर नामक स्थान पर 1967-68 में दक्खन कालेज, पूना और राजस्थान पुरातत्व विभाग के सहयोग से उत्खनन किया गया तथा तिलवाड़ा, जिला बाड़मेर में भी खुदाई की गयी जिसमें प्रागैतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई। इस उत्खनन में दो स्तर प्राप्त हुये—पूर्व स्तर 5000 ई. पू. से 2800 ई. पू. और उत्तर स्तर लोह काल का निश्चित किया गया।

गणेश्वर

नीम का थाना, सीकर से 10 कि. मी. की दूरी पर गणेश्वर की पहाड़ी के सामने एक टीले की खुदाई से हरप्पा युगीन ताम्बे के फलक व ताम्बे की 58 कुल्हाड़ियां प्राप्त हुईं। यह खुदाई भी पुरातत्व विभाग के निदेशक श्री रतनचन्द्र अग्रवाल व श्री विजयकुमार के निदेशन मे हुई। पहली बार यह पता लगा है कि भारत में ताम्बे की खानों के पास तत्कालीन ताम्र गला कर सामग्री निर्माण करने वालों का यह स्थल अति महत्वपूर्ण और प्राचीन था। श्री अग्रवाल की मान्यता है कि धातु गलाने का काम हरप्पा के समकालीन स्थानीय लोगों द्वारा किया जाता था और वे इस कार्य में अति निपुण थे। यहीं से ये लोग नदियों के माध्यम से ताम्र सामग्री को पूर्व-पश्चिम से बाहर भेजते थे। साबी नदी के माध्यम से गंगा यमुना दोआब तक पहुँचाया जा सकता था। कांटली नदी के दोनों ओर प्रागैतिहासिक सामग्री की खोज की गयी है जो पांच हजार वर्ष से भी पूर्व की है। उस समय पत्थर के छोटे औजारों का भी प्रयोग होता था। निश्चित है कि पांच हजार वर्ष पूर्व जयपुर, सीकर, झुंझुनू के स्थानीय लोगों ने ताम्बा गलाने की विधि का पता लगा लिया था और यहीं से ताम्बे की सामग्री बनाकर मोहन-जोदड़ो-हरप्पा को भेजा जाता था। आज भी इस क्षेत्र में खेतड़ी-ताम्बा योजना राष्ट्रीय स्तर पर चलाई जा रही है।

उत्खनन के अतिरिक्त भूतल पर भी सामग्री मिल जाती है जिसमें प्राचीन प्रतिमाओं का अधिक महत्त्व है। उनकी गढ़ाई, शृंगार उपकरण, भाव भंगिमा, विषयवस्तु से विदित हो जाता है कि वे किस काल विशेष से सम्बन्धित हैं। राजस्थान के पूर्व में भरतपुर के समीप नोह से "यक्ष" की पारखम से समानता रखती हुई आदमकद प्रतिमा ई. पू. तृतीय शती की मिली है।

उत्तर में पीर सुल्तान, बड़ोपल, रंगमहल, मुण्डा स्थानों से सुन्दर टेराकोटा द्वितीय शती के प्राप्त हो चुके हैं। मण्डोर के कृष्ण लीला के स्तम्भ गुप्तकाल के अनुमान किये जाते हैं जो जोधपुर संग्रहालय में विद्यमान हैं।

गुर्जर प्रतिहार युग की मूर्तियां ओसियां, आभानेरी से मिली हैं। दक्षिण में तनेसर की मूर्तियां भी उत्तर गुप्तकाल से साम्य रखती हैं। चौहान, चन्देल, परमार, राठौर राजाओं के समय मे कौशल से परिपूर्ण भाव-भंगिमाओं से युक्त प्रतिमायें दसवीं से बारहवीं शती तक देलवाड़ा (आबू), नीलकण्ठ (अलवर), जगत, कल्याणपुर, मैनाल, बिजौलिया, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, किराडू (जोधपुर), रामगढ़, भण्डदेवरा, अटरू, कृष्णविलास (कोटा) स्थानों से उपलब्ध हुई है। पुरातात्विक अनुसंधानों और सर्वेक्षणों से ही आज हमारे प्रदेश में काल के गर्त मे पड़ी हुई संस्कृति के अवशेष प्रकाश में आये हैं और हम गर्व से कह सकते हैं कि इतिहास के किन-किन मोड़ों से गुजरते हुये हम वर्तमान में जी रहे हैं।

□

छेनी गढ़ी संस्कृतियाँ—मूर्तियाँ

आदि मानव ने प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों और उसके भयावह रूपों को देखकर उनसे परित्राण पाने के लिए एक शक्ति की सत्ता का अनुभव किया जो उसकी रक्षा कर सके तथा उसे सुख और समृद्धि प्रदान कर सके। भगवान की कल्पना का अनन्त रूपों में मानव मस्तिष्क में उद्रेक हुआ जिसकी उसने नाना विधियों से अर्चना की। अर्चना के लिये आधार की आवश्यकता है और वह आधार प्रतिमा में सन्निहित है। भगवान को मनुष्य से अधिक शक्तिशाली होना चाहिये इसलिये उसकी भव्यता को प्रदर्शित करने के लिये उसे नाना विशेषणों से युक्त सत्य, शिव और सुन्दर की उपाधियां प्रदान की गयी। इन्हीं कल्पनाओं के साकार रूप सोना, चांदी, तांबा, पीतल, पत्थर, मिट्टी, हाथी दांत, अस्थि, सींग आदि उपादानों में मूर्त हो गये। भारतीय मूर्तिकला का स्थान संसार में सर्वोपरि रहा है। मूर्तिकला को समझने के लिये इसका अन्य समकक्षी कलाओं नृत्य-संगीत एवं चित्र से परस्पर संबंध जानना आवश्यक है, इसके बिना कला में निहित "सुन्दर" तत्त्व का रस नहीं ग्रहण किया जा सकता। सौंदर्य की परिभाषा समय, स्थान और रुचि के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। फिर भी भारतीय मूर्तिकला शास्त्रीय नियमों से आबद्ध है जिनके लक्षण शुक्रनीति, बृहत् संहिता, मत्स्यपुराण और प्रतिमामान ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

कला के कुछ विद्यार्थी इस बात को मानते हैं कि मूर्तिकला प्रकृति की सच्ची अनुकृति होनी चाहिये परन्तु भारतीय कला इसके विपरीत है। यहां विदेशी और भारतीय कला में अन्तर दृष्टिगत होता है। यूनानी कला प्रकृति की अनुकृति है। असीरिया और बेबिलोन में भी पहले यही रूप दिखाई देता है तत्पश्चात् यूनान में यह चोटी पर पहुंच जाता है और वहां से अन्य पश्चिमी देशों में उसका विकास होता है।

प्रागैतिहासिक काल, ई पू. 10वीं से दूसरी शती

मूर्तिकला का इतिहास प्रागैतिहासिक काल में प्रस्तर युग, ताम्र, कांस्य और लौह युग के विकास क्रम से प्रारम्भ होता है। इन युगों की बनी हाथी दांत की जंगली हाथी और घोड़े की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।

ईसा पूर्व पांचवीं एवं छठी शती में नागरिक सभ्यता का प्रारम्भ हो गया था। उस समय से मिट्टी, धातु और पत्थर की अच्छी मूर्तियां बनने लगी थीं।

मोहनजोदड़ो और हरप्पा के 5000 ई. पू. के ध्वंसावशेषों में एक दाढ़ी वाले आदमी एवं एक नर्तकी की कांस्य मूर्तिया मिली हैं।

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान मैकडौनल ने सिद्ध किया है कि वैदिक काल में मूर्तियां बनती थीं।

शैशुनाक काल, 727-325 ई. पू.

भारत में ऐतिहासिक काल की सबसे पुरानी मूर्तियां शैशुनाक वंश के राजाओं की मिली हैं। पारखम को मथुरा संग्रहालय की अजातशत्रु की 525 ई. पूर्व की मूर्ति उल्लेखनीय है। राजा-रानियों की तीन अन्य मूर्तियां भी इस काल का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये मूर्तियां पालिशदार हैं—आदमकद ऊंचाई की हैं। इन मूर्तियो को यक्ष-यक्षियो की भी माना जाता है पर उनके मानवीय आकार-प्रकार से यह प्रतीत होता है कि वे देव योनि की मूर्तियां नही बल्कि साधारण मनुष्यों की हैं।

मौर्य काल, 325-188 ई. पू.

चाणक्य के अर्थशास्त्र के अनुसार शिल्पियों की पंचायतें होती थीं। राज्य की ओर से इनकी रक्षा का विशेष प्रबन्ध था। सम्राट अशोक के नाना स्थानो पर उपलब्ध धर्मलेख स्तम्भ भी मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। स्तम्भों की बनावट और खुदाई के अतिरिक्त उनके परगहों के सिर पर घोड़े, सिंह, हाथी, कमल, हंस आदि अलंकरण बने हुये हैं। ये स्तम्भ पालिशदार हैं और चुनार के पत्थर के हैं। पत्थर पर पालिश उस युग की ऐसी विशेषता है जो संसार भर में अपना जोड़ नहीं रखती। प्रति स्तम्भ 30 फुट ऊंचा और वजन में बारह सौ मन के लगभग है।

पटना के पास दीदारगंज में मिली चामर धारिणी की पालिशदार मूर्ति अशोक कालीन मूर्ति कला का अद्वितीय दृष्टांत है। इस युग के विशाल स्तूप एवं गुफायें भी उल्लेखनीय हैं जिन्हें पत्थरों में काटकर पालिशदार बनाया गया है। मथुरा, कौशाम्बी, पटना एवं अहिच्छत्रा में असंख्य मृण्मूर्तिया प्राप्त हुई हैं। बुद्ध काल में मूर्ति पूजा नहीं थी और उसके अभाव में स्तूपों का अलंकरण ही प्रचलित था। स्तूपों के बाड़ पर अप्सराओं, यक्षों और सिद्धों की मूर्तियां मिली हैं। यह परम्परा संभवत: ब्राह्मण काल के वास्तु से चली जान पड़ती है। मत्स्यपुराण में ऐसा विधान है कि मंदिर के द्वार तोरणों पर गंधर्व मिथुन बने होने चाहिये। मंदिर

परम्परा चाणक्य के पहले से चली आती है। कृष्ण पूजा पाणिनी काल में 8वीं शती ई. पू. में भी विद्यमान थी।

राजस्थान में भी इस काल की मूर्ति नोह, भरतपुर से प्राप्त हुई है जो आदमकद है और यक्ष की है। यह मूर्ति पारखम के यक्ष से साम्य रखती है।

शुंग काल, 188-30 ई. पू.

शुंग काल की मूर्ति कला के नमूने साची में देखने को मिलते हैं जो झांसी-इटारसी रेल्वे लाइन पर स्थित है। यहां अशोक कालीन बड़े स्तूप के चारों दिशाओं वाले तोरण व परिक्रमा देखने योग्य हैं। तोरणों के चौपहल खंभे चौदह फुट ऊंचे हैं। उन पर बडेरियां हैं जिन पर सिंह, धर्मचक्र एवं यक्ष बने हैं। तोरणों पर चारों ओर बुद्ध जीवनी और उनके पूर्व जन्म के दृश्य अंकित हैं। खम्भों के नीचे भाग मे बड़े-बड़े द्वार रक्षक बने हुये हैं। सहारे के लिये वृक्षिकायें और चौमुखे हाथी एवं बौने बने हुये हैं। यहां की खुदाई का काम विदिशा के हाथी दांत के काम करने वाले कारीगरों द्वारा किया जान पड़ता है। दक्षिण भारत की दांत की कारीगरी इस शैली से साम्य रखती है। सांची में जो दृश्य बने हैं वे पत्थर में उभरे हुए है—फुल्ले और गोमूत्रिकाएं अधिक बनी हैं। बुद्ध की प्रतिमा कही नहीं मिलती, उसके स्थान पर कमल, स्वस्तिक या चरण के संकेत मिलते हैं।

शुंग कालीन कला में सांची के पश्चात् भरहुत का स्थान है। भरहुत इलाहाबाद-जबलपुर के बीच नागोद राज्य में है। यहां 1873 ई. में कनिघम को एक स्तूप मिला जिसका तल और व्यास 68 फुट है। चारों ओर की बाड़ मूर्ति कला से अलकृत है। यहां का पत्थर लाल है। भरहुत की मूर्तियों के विषय अनेक हैं जिनमें बुद्ध दर्शन हेतु सवारियां व बुद्ध जीवन संबंधी दृश्य उत्कीर्ण है। जेतवन क्रयदान का दृश्य भी यहीं पर है। यक्ष-यक्षिणिया, नागराज की बडी मूर्तियां यहीं मिलती है। भरहुत की कला लोक कला की संज्ञा में आती है, उसमें सफाई नहीं है। इसी काल की पश्चिमी घाट के पहाड़ों में आंध्र कुल की गुफायें, उड़ीसा के उदयगिरी में जैन गुफायें मिली हैं जिनमें उभरी हुई मूर्तियां बनी हैं।

राजस्थान में लालसोट की छतरी के खम्भों पर बने कमल के अभिप्राय एवं आकृतियां प्रथम शती ई. पू. मानी जाती हैं जो भरहुत कला से साम्य रखती हैं। नगर से प्राप्त महिषासुरमर्दिनी का टेरकोटा भी महत्त्वपूर्ण है। अभी तक बुद्ध प्रतिमा नहीं बनती थी पर ब्राह्मण और जैन सम्प्रदाय के देखा-देखी बौद्धों ने भी अपने आराध्य बुद्ध की मूर्ति शुंगकाल के बाद ही आरम्भ कर दी और बुद्ध की प्रतिमायें बनने लगीं।

कुषाण काल, 50-300 ई.

कनिष्क महायान संप्रदाय का अनुयायी था। उसने स्तूप और विहार बनवाये और बौद्ध धर्म का प्रचार किया। कुषाणकाल मूर्ति कला के लिये महत्त्वपूर्ण है। इस काल मे गांधार और पश्चिमी पंजाब में एक शैली का विकास हुआ जिसका विषय मुख्यतः बुद्ध है और देखने में यह सर्वथा यूनानी जान पड़ती है। इसका पत्थर काला सिलहटी है। गांधार शैली में यूनानी कला की वास्तविकता और भारतीय कला की भावमय व्यंजना का समन्वय भली प्रकार नहीं हो सका इसलिये दोनों में से एक भी विशेषता का प्रस्फुटन ठीक से नही पाया।

कुषाण काल में गांधार की भांति मथुरा भी मूर्ति कला का केन्द्र रहा। सांची और भरहुत की कला इस समय एक हो जाती है - ऐसा प्रतीत होता है। यह मूर्तियां सफेद, चित्तेदार लाल, खुरदरे पत्थर की हैं। यक्ष-यक्षिणियां, वृक्षिकायें, खड़े या पद्मासन युक्त बुद्ध इस शैली के विषय हैं, इसमें गांधार की छाप बिल्कुल नही मिलती। इस शैली में शृंगार मूर्तियों की बहुलता है।

मथुरा शैली की कुषाण काल की प्रसाधिका की मूर्ति प्रसिद्ध है। जिसके हाथ में शृंगार पिटारी है। मूर्ति के पीछे एक स्तम्भ है जिसके परगहे पर पंख वाली सिंह नारियां बनी हैं। इसी प्रकार मद्य पी हुई उन्मत्त नारी की मूर्ति भी बड़ी भावपूर्ण है। मद्रास में अमरावती बौद्ध स्तूप में शातवाहनों ने संगमरमर पर आश्चर्यजनक मूर्तियां बनवाईं जिनमे बुद्ध पूजा और उनकी जीवनी के दृश्य उत्कीर्ण हैं।

ब्राह्मण धर्म में इस समय गणेश, सूर्य, शक्ति, शिव की मूर्ति पूजा प्रचलित हो चुकी थी इसलिये इन देवताओं की मूर्तिया बनने लगी थीं। सूर्य की वीर वेश मे खडी मूर्ति भी इस काल में बनने लगी। कहते हैं ईरानियों ने भारत में आकर एक विशेष पूजा चलाई। कुषाण काल या इससे पहले की ब्राह्मण धर्म मूर्तियों या मंदिरो के अभाव का कारण माना जाता है कि कुषाणों ने कट्टर बौद्ध होने के कारण उन्हे नष्ट कर दिया।

राजस्थान में नोह से प्राप्त बोधिसत्व मैत्रेय की एक ही पत्थर पर चार रूपवाली मूर्ति अभयमुद्रा मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

नाग-वाकाटक काल, 185-320 ई.

शुंग साम्राज्य के पतन के पश्चात् विदिशा में नागवंश का राज्य था जो यादव क्षत्रिय थे। यह परम शैव थे और शिव लिंग को इन्होंने कंधे पर वहन करके



शिव को तुष्ट किया था। इस कारण यह कुल भारशिव कहलाता है। इस शैली के मंदिरों की विशेषता है कि उनमें सादगी रहती है। खजूर वृक्ष नागों का चिन्ह था अतः इस शैली के अलंकरण में ताड़ का अभिप्राय मिलता है। वाकाटक भी शैव थे, उनके समय में चतुर्मुख शिवलिंग की स्थापना हुई।

गुप्त काल, 320-600 ई.

गुप्तों का कला प्रेम संसार विदित है। उनकी कला में गांभीर्य, रमणीयता और आध्यात्मिकता की छाप मिलती है। कालिदास की लेखनी के प्रलम्ब लज्जित नेत्र, उन्नत पयोधर, पीन नितम्ब, क्षीण कटि, त्रिबलि, रत्नाभूषण, नाना केश विन्यास, झूलते हुये कुण्डल, स्मित का प्रस्फुटन गुप्त मूर्ति कला में साकार हुए। अलंकरणों का न्यून प्रयोग गुप्त काल में हुआ है यह उसकी विशेषता है। अजन्ता की उन्नीसवीं गुफा का द्वार काल का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहा जाता है। सपत्नीक नागराज की मूर्ति उल्लेखनीय है।

पूर्व गुप्त काल के राजस्थान के रंग महल, पीर सुलतान, मुन्डा स्थानों से प्राप्त टेराकोटा महत्त्वपूर्ण हैं। बीकानेर संग्रहालय में गोवर्धनधारी कृष्ण, ग्वाल, कृष्ण व गोपी टेराकोटा राजस्थान के कलाकारों की मूर्तिकला के कौशल के चमत्कार हैं।

जोधपुर संग्रहालय में लाल पत्थर की 13 फीट ऊंची स्तम्भों पर कृष्ण लीला के अंकन भी इसी काल का प्रतिनिधित्व करते हैं। सांभर से प्राप्त वर्तन के दस्ते पर यूनानी आकृति के स्त्री सिर का दृश्य महत्त्वपूर्ण है।

चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त सम्राटों का समय कला और संस्कृति के लिये स्मरणीय रहेगा। इस काल की मुख्य मूर्तियों में सारनाथ की बुद्ध मूर्ति, मथुरा की खड़ी बुद्ध मूर्ति, बर्मिघम म्यूजियम की खड़ी ताम्र बुद्ध मूर्ति, कला भवन काशी का गोवर्धनधारी कृष्ण, कौसाम्बी की सूर्य मूर्ति, कार्त्तिकेय, कला भवन का सारनाथ का लोकेश्वर संसार प्रसिद्ध है।

पूर्व मध्य काल, 600-900 ई.

राजस्थान का बांसी, उदयपुर का जैन कुबेर, भरतपुर का चतुर्मुज, आदि नाथ, डीडवाना का योगनारायण 8वीं शती की मूर्ति कला प्रेमियों के अध्ययन का विषय बन चुके हैं। ओसियां, किराडू जोधपुर में, हर्षनाथ सीकर में, रामगढ़ कोटा में, पाटन झालावाड़ में, बाडोली, नागदा उदयपुर में पूर्व मध्यकाल की कृतियां प्रस्तुत करते हैं। हर्षनाथ सीकर से लिंगोद्भव, अजमेर संग्रहालय से, अर्द्धनारीश्वर

एवं सूर्य झालावाड़ संग्रहालय से, स्कंद, कार्त्तिकेय और शेषशायी विष्णु कोटा म्यूजियम से, मात्रिका डूंगरपुर संग्रहालय से, गणपति एवं अर्द्धनारीश्वर आभानेरी से, वराही और ऐंद्री उदयपुर म्यूजिमय से, जैन सरस्वती बीकानेर से और नारी शिर राजौरगढ़ अलवर से राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली को सुशोभित कर रहे है। पूर्व मध्य काल की विशेषता यह है कि इसमें घटनाओं के बडे-बड़े दृश्य अंकित किये जाते हैं जैसे गंगावतरण, दुर्गा-महिषासुर युद्ध, रावण का कैलाश उत्तोलन आदि।

वेलूर की गुफायें, कैलाश का मंदिर, एलिफेन्टा की गुफायें, मामल्लपुरम् के रथ मंदिर, बोरोबुदूर के मंदिर इस काल की कला के केन्द्र हैं।

उत्तर मध्य काल, 900-1300 ई.

इसका संबध चंदेल, परमार, राठौर राजवंशों से है। यह वह समय है जब कलाकारों की कल्पना कुण्ठित हो गयी थी। अति अलकृत शैली से गुप्त काल की विशेषताओ को रूढ़ि रूप में पालन करना उनकी परिपाटी बन गयी थी। इस काल के अनुसार मूर्ति कला के लिये भारत को 6 मंडलों में विभक्त किया गया है।

उड़ीसा मण्डल, बंगाल-बिहार मंडल, बुंदेलखण्ड मंडल, गुजरात राजस्थान मंडल। इस काल में तंत्र की प्रेरणा से कला में अश्लीलता का प्रदर्शन हुआ। खजुराहो का विष्णु मदिर, ग्वालियर का सास-बहू का मन्दिर, जोधपुर का ओसियां स्थान, सोमनाथ का शिव मंदिर, बडनगर का तोरण, आबू का दिलवाडा जैन मदिर इस शैली के उदाहरण हैं। इस काल की शैली मे जालियों, पुतलियों, बेलबूटे और नक्काशी का कार्य हुआ। पुरी का जगन्नाथ मंदिर, कोणार्क का सूर्य मंदिर, भुवनेश्वर मंदिर समूह भी इस काल के हैं।

महाराणा कुम्भा ने चित्तौड़ मे गुजरात विजय की स्मृति में 15वी शती मे कीर्ति स्तम्भ बनवाया जो एक सौ बाईस फुट ऊंचा है। कीर्ति स्तम्भ व मीरा मंदिर अलंकरण की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं पर मूर्तियां निर्जीव और जकड़ी हुई हैं। अकबर, जहांगीर और शाहजहा काल मे केवल वास्तु कला का सृजन हुआ और मूर्तिकला का शनैः शनैः ह्रास होता चला गया।

राजस्थान मे 17वी शती की आमेर से प्राप्त संगमरमर की नृत्य मंडली की मूर्तियां बड़ी सुन्दर हैं। इस प्रकार लाल पत्थर की दो स्त्रियां आदम कद राजस्थानी वेशभूषा में जयपुर से प्राप्त बड़ी आकर्षक हैं।

दक्षिण में तांबे, पीतल, कांस्य की मूर्तियों में नटराज की मूर्तियां बहुलता से बनी। दुर्गा, शिव, हनुमान, नृत्य गोपाल की मूर्तियां भी घर-घर देखने को मिलती हैं। जयपुर में अभी तक मूर्तिकला का कार्य घसीटा जा रहा है परन्तु कलाकारों में नवीन उद्भावना नहीं है। वे रूढ़िवादी ढंग से देवी-देवताओं की मूर्तियां अकड़ी-जकड़ी और बेडोल बनाते हैं। प्राचीन मूर्त्तियों के माध्यम से ही हमें प्राचीन युगीन मानव के नखशिख, अंग सौष्ठव, वेशभूषा तथा रीति रिवाजों का पता चलता है जो हमारी संस्कृति के प्रतीक हैं।

पर अब नई प्रयोगवादी चेतना ने कुछ युवक कलाकारों को प्रभावित किया है जो अब देश भर में फैल गयी है। अब कला का लक्ष्य बदल गया है। कलाकार वापस आदि अवस्था की कला की ओर उन्मुख हो रहे हैं। एब्सट्रेक्ट कला की ओर कलाकार केन्द्रित हो रहे हैं। यह मोड़ निग्रो एवं लोक कला से प्रेरित हुआ है।

□

संस्कृति के प्रहरी—
देवल और छतरियां

राजस्थान की प्राचीन सम्पदा स्थापत्य, प्रतिमाओं, सिक्कों, चित्रों, शास्त्रों और ग्रन्थों आदि के नाना रूपों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है और इनमें निहित संस्कृति ही इस प्रदेश को गौरवान्वित किये हुए है। देवल और छतरियों में स्थापत्य, चित्रकारी, शिल्प सब ही कुछ देखने को मिलता है। साथ ही मिलती है वीर पुरुषों और वीरांगनाओं के शौर्य बलिदान की कहानियां जिन्होंने युद्ध किये हैं। सिर कटाये हैं—शरीर की आहूतियां दी हैं। इसी कारण आवश्यकीय रहा है उनकी स्मृति में देवल और छतरियां बनवाया जाना। देवल और छतरियां हमें याद दिलाती हैं समय-समय पर उन लोगों की जिन्होंने देश प्रेम, आत्म सम्मान, स्वामी भक्ति, धर्म संस्थापन, मान मर्यादा और लोक कल्याण हेतु अपने प्राणों की आहूतियां दे दी। देव मन्दिरों की भांति स्मृति स्मारकों में जहां चरण या देवताओं की प्रतिष्ठा कर दी जाती है और जिनमें गर्भगृह, शिखर, नन्दी, मण्डप, शिवलिंग बनाया जाता है उन्हें देवल कहा जाता है। ऐसे भी उपदेवता देवी होते हैं जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि मनुष्य शरीर में प्रवेश कर अपनी इच्छायें प्रकट करते हैं तथा उन्हें प्रसन्न करने हेतु उनके देवल और थड़े बना दिये जाते हैं। ऐसे देवी-देवताओं में होते हैं माताजी, भैरूजी, पिपलाज माता, केवल देवी, सांड माता, कालका, धर्मराज, खेरज माता, चौसठ जोगनियां, नीमच माता, आनज माता बालाजी, भोमियांजी, कालागोरा भैरू, घाटारा भैरू जिनके लिए जागरण किये जाते हैं। रात-रात भर उनकी स्तुति गाई जाती है। गाथाओं के रूप में इनकी वंशावलियां बोली जाती हैं। विशेष रूप से जब यह शरीर में प्रवेश कर प्रताड़ना देते हैं—किसी इच्छा की मांग करते हैं। अनुसूचित जातियों और आदिवासियों में इन देवी-देवताओं की मान्यता अधिक होती है। मेवाड़ और हाड़ोती में उप देवी-देवताओं में, लोगों की अधिक आस्था दिखाई पड़ती है। मृत्यु पर्यन्त जो पारिवारिक सदस्यों को नाना प्रकार की यातनायें देते हैं—भ्रमित रहते हैं उनको निश्चित स्थान पर स्थिर करने के लिए देवलों और थड़ों में स्थापित किया जाता है—उनकी बोलमा बोली जाती है। कार्य सिद्ध हो जाने पर उनके प्रसाद चढ़ाया जाता है। उनकी पातड़ी या मूरत गले में धारण की जाती है। लोक देवी-देवताओं की दृष्टि से राजस्थान "डग-डग देवरो पग-पग देव" की लीला स्थली रहा है। छोटी-बड़ी

इच्छाओं की पूर्ति बीमारियों के उपचार हेतु लोक जीवन इन देवी-देवताओं की शरण में जाकर लोटपोट होता है—आंखें बिछाता है—श्रद्धा के फूल पाती एवं भभूत लेकर श्रद्धा का यही गहन गुंफित और गतिमान इतिहास देवल और छतरियो का निर्माण करता आया हैं। वर्षों से यह देवल और छतरियां बनती चली आ रही हैं। आस्था और श्रद्धा के कारण ही वे अभी तक किसी न किसी रूप में सुरक्षित रही हैं। समय के प्रभाव से वे क्षत विक्षत अवश्य हो जाती हैं या फिर आस्थावान इनका पुनः निर्माण करवा कर इनके प्राचीन स्थापत्य को नष्ट कर देते हैं। लार्ड कर्जन ने इसी कारण स्थापत्य के इन जीते-जागते प्रमाणों को सुरक्षित रखने हेतु प्राचीन स्मारक सुरक्षा अधिनियम बनाया। अब भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण या राज्य पुरातत्व विभाग इन स्मारकों की सुरक्षा करता है जो प्राचीनता या कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। देश के प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है इन स्मारकों के सांस्कृतिक कलात्मक महत्व की ओर जागरूक रहे इनकी सुरक्षा में हाथ बटावे ताकि आने वाली पीढ़ियों के लिए वे कुछ बचाकर रख सकें। राजस्थान के हर छोटे-बड़े नगर, गांव में देवल और छतरियां बिखरी पड़ी हैं। जयपुर की प्राचीन राजधानी आमेर के राजाओं के श्मशान आमेर दिल्ली मार्ग पर आमेर से लगभग दो किलोमीटर दूरी पर स्थित है जहां आमेर के राजाओं की छतरियों के समूह बने हैं। राजा मानसिंह प्रथम की छतरी चित्रकारी के कारण कला जगत में बहुत विख्यात हो चुकी है। राजस्थान में पाये गये भित्ति चित्रों में इस छतरी के चित्र प्राचीनतम अकबरकालीन कहे जाते हैं। इनमें चमकदार पजामा व अटपटी पगड़ी की पोशाक देखने को मिलती है। धनुर्धारी, अश्वारोही, ऊँट सवार आदि के दृश्य इनमे चित्रित मिलते हैं। अन्य छतरियां कारीगरी की दृष्टि से साधारण हैं।

जयपुर नगर से दो मील की दूरी पर उत्तर मे ब्रह्मपुरी नामक स्थान पार करने पर गैटोर नामक स्थान पर जयपुर के राजाओं के श्मशान व सुन्दर छतरियाँ सवाई जयसिंह से लेकर महाराजा माधोसिंह द्वितीय तक के समय तक की निर्मित हैं। छतरियाँ संगमरमर के उत्कृष्ट प्रमाण हैं। महाराजा रामसिंह और सवाई जयसिंह की छतरियाँ एक ही ढंग और कारीगरी की बनी हुई हैं, परन्तु थोड़ा तुलनात्मक अध्ययन करने से उनका अन्तर विदित हो जाता है। सवाई जयसिंह की छतरी के स्तम्भों पर शिशु क्रीडा मातृकायें जयपुर शैली के शिल्प में बहुत सुन्दर बनी हैं। स्तम्भों के ऊपर गुम्बद के अन्दर दशावतार की झांकियाँ उत्कीर्ण हैं। महाराजा माधोसिंह की छतरी में अलंकरण अंग्रेजी युग की याद दिलाता है। माधोसिंह की छतरी गुलाबी पत्थर में बनी है। छतरी के ऊपर के खण्ड मे जयपुर की राजसी सवारी के दृश्य छतरी की पीठिका के चारो ओर संगेमरमर के फलकों पर उत्कीर्ण है जो कारीगरी की दृष्टि से देखने योग्य है और जयपुर के कारीगरों की कार्य

कुशलता के परिचायक हैं। श्मशान के अन्दर के भाग में महाराजा जयसिंह रामसिंह, माधवसिंह प्रथम, पृथ्वीसिंह व प्रतापसिंह की छतरियां हैं। मू. पू. म. मानसिंह द्वितीय की छतरी भी वर्तमान महाराजा भवानीसिंह द्वारा बनवा दी गयी है। पुरातत्व विभाग के संरक्षण में यह स्थान समूह नाहरगढ़ दुर्ग की तलहटी में राजाओं के बीते वैभव को संजोये हुये है।

ब्रह्मपुरी के बाहर निकल कर दिल्ली मार्ग पर जोरावर सिंह के दरवाजे के बाहर महारानियों के लिए श्मशान और उनमें छतरियाँ निर्मित हैं। एक छतरी जो बीचोंबीच है प्रायः टूट चुकी है। उसके गुम्बद और स्तम्भ सभी समाप्त हो चुके हैं। अब तो छतरियां पुरातत्व विभाग के संरक्षण मे हैं।

अलवर के महाराजा बख्तावर सिंह लासवाड़ी की लड़ाई में मराठों के विरुद्ध अंग्रेजों की ओर से लड़े। उनकी पासवान मूसी महारानी, जो उनके लिए सती हो गयी, की स्मृति में महाराजा विनय सिंह ने छतरी सम्पूर्ण संगमरमर की बनवाई जो कारीगरी मे बेजोड़ मिसाल है। छतरी राजभवन के पीछे सागर ताल पर स्थित है। जनता मे मूसी महारानी की बड़ी मान्यता है। बच्चों को बीमारी में छतरी में स्थापित चरणों का चढाया हुआ पानी पिला देने से विश्वास है कि बीमारियां ठीक हो जाती हैं।

मेवाड़ के महाराणा प्रताप की छतरी केजड़ बांध पर चावण्ड मे बनी है जो पहले मेवाड़ की राजधानी था। चावण्ड सन् 1605 के राग रागनी के चित्रों के लिए विश्वविख्यात हो चुका है। नासिरदीन कलाकार के यह चित्र प्राचीनता की दृष्टि से उत्कृष्ट है। छतरियां पशुओं की भी उनकी स्वामिभक्ति और असाधारण कृत्यों की स्मृति मे बनाई जाती थीं। कुत्तों और घोड़ों के लिए ऐसे समाधि स्थल विशेषतया महत्व रखते थे। सवाई माधोपुर में कुकराज की घाटी है जो कुत्ते की स्वामिभक्ति के लिए प्रसिद्ध है। हल्दी घाटी में महाराणा प्रताप के स्वामिभक्त घोड़े चेतक की छतरी है जिसके दर्शनार्थ पर्यटक लोक दूर-दूर से वहां जाते हैं।

उदयपुर से दो मील दूर आहाड़ प्राचीन आघाटपुर नामक स्थान पर महाराणा अमर सिंह से अब तक के सारे राणाओं की छतरियां विद्यमान हैं। आहाड़ को महासतियों का स्थान भी कहा जाता है और पुरातत्व उत्खनन के लिये विख्यात है। आहाड से अठारह सौ वर्ष ईसा पूर्व के श्वेत चित्रकारी वाले काले लाल धरातल के मृदभाण्ड प्राप्त हुये हैं और वहां एक राजकीय पुरातत्व संग्रहालय भी उत्खनन से प्राप्त सामग्री के लिए मौजूद है।

बीकानेर से पाच मील दूर देवकुण्ड में राव जैतसी के समय से श्मशान में राजाओ, रानियो, पासवानो और उनकी सन्तानों की छतरियां बनी। इन सब में

पुरानी छतरी राव कल्याणमल की जैसलमेरी पत्थर में बनी है। यह छतरियां उदयपुर के आहाड़ की छत्रियों के अनुरूप ही बनी हैं। शैली, नन्दी-मण्डप के समान है जिसमें नन्दी की प्रतिमा के ऊपर मण्डप बना है और सम्मुख शिव लिंग स्थापित है। गुम्बद वाली छतरियां लोदी और सूर सुल्तानों की शैली की छाप पर बनी, परन्तु हिन्दू छतरियां कमल कोष के आकार की बनी होती हैं। रायसिंह और सूरसिंह की छतरियां लाल पत्थर में हैं, जिनमें कारीगरी उत्कृष्ट प्रकार की है। महाराजा सूर सिंह की छतरी में रासलीला का अंकन छतरी के अन्दर चारों ओर उत्कीर्ण है। सबसे बड़ी और सुन्दर छतरियां राजा करण सिंह और अनूपसिंह की हैं। छतरियों में सोलह स्तम्भों पर बीच के बड़े गुम्बद टिके हुये हैं और चारों कोनों पर चार-चार छोटी छतरियां हैं। महाराजा करण सिंह की छतरी मे स्तम्भों पर केले के पत्ते उत्कीर्ण हैं। करण सिंह की छतरी पर घोड़े पर राजा के सम्मुख रानियां हाथ जोड़े खड़ी हुई बनी हैं। बीकानेर के स्थापत्य मे छज्जे घुमावदार और उनके कोने नीचे तक लटके होते हैं।

बीकानेर के गजसिंह, सूरत सिंह, सुजन सिंह की छतरियों में मुगल स्थापत्य का प्रभाव है, परन्तु चारों ओर रास लीला का अंकन भी है। नागौर में अमर सिंह की छतरी बीकानेर के करण सिंह और अनूप सिंह की छतरियो से साम्य रखती है। इसमे बदरून का जाल गुम्बद के अन्दर वाले भाग में उत्कीर्ण है। परगहे राजपूत शैली के हैं। अमर सिंह की रानी की छतरी गुजराती शैली की है और बूंदी की हीण्डोलो की छतरी से साम्य रखती है।

कोलायत में साधु गिरधापति की छतरी अनूप सिंह और करण सिंह की छतरियों से साम्य रखती है अर्थात् सुन्दर बनी हुई है।

मारवाड में वीर पुरुषों के गौरक्षार्थ दिवंगत हो जाने पर जो समाधि स्थल बने वे गोवर्धन कहलाते हैं क्योंकि उनमें कृष्ण गोवर्धन धारण किये बने होते हैं। यह समाधि स्थल कृष्ण के पर्यायवाची हैं क्योंकि भगवान कृष्ण भी गोपालक थे और इन वीर पुरुषो ने भी गौरक्षा की अधिकतर समाधि स्थलों पर घोड़े पर वीर और सामने पत्नियां जो सती हो गयीं हाथ जोड़े खड़ी हुई दिखाई जाती हैं। जोधपुर नगर से छह मील दूर मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मण्डोर में राजाओं की छतरियां और देवल निर्मित हैं। इसका प्राचीन नाम माण्डव्यपुर है। मण्डोर में विशाल उद्यान भी है जो आजकल जनता के लिए मनोरंजन स्थल के उपयोग मे आता है। उद्यान में बांई ओर तैतीस करोड़ देवताओं की साल नाम देवल है जिसमें चट्टान से काटकर विशाल आकार में वीरों और देवताओं की प्रतिमायें उत्कीर्ण की गयी हैं। यह प्रतिमायें महाराजा अभयसिंह के समय में बनाई गयी थीं। प्रतिमायें चामुण्डा,

गुसाईं, मल्लीनाथ, पाबूजी, रामदेवजी, हरबूजी, मेहाजी, गोगाजी, ब्रह्मा, सूर्य, रामचन्द्र, कृष्ण, महादेव और जलन्धरनाथ की है। मल्लीनाथ और जलन्धर नाथ प्रतिमायें इसलिए है कि जोधपुर नरेश नाथ संतों के शिष्य और भक्त थे। बाकी पंच वीर अपने बलिदानों के लिए महत्त्व रखते हैं। देवताओं की साल के सामने वाले भाग में राजाओं की स्मृति छतरियां स्थित हैं जो कारीगरी की दृष्टि से लाल पत्थर में उत्कृष्ट कही जा सकती हैं। महाराजा अजीत सिंह की छतरी सब छतरियों में सुन्दर है। छतरियों के स्थापत्य में शैव, बौद्ध, जैन सभी शैलियों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। छतरियों का निर्माण प्रारम्भ महाराजा अभय सिंह के समय से हुआ और महाराजा भीम सिंह तक होता रहा। महाराजा अजीत सिंह की सोलह रानियां भी इसी स्थल पर सती हुई। महाराजा अजीत सिंह तीस वर्ष तक गुप्त रहे। राव मालदेव, मोटा राजा उदयसिंह, सूर सिंह, गज सिंह, जसवन्त सिंह के देवल उत्तर से दक्षिण को एक ही पंक्ति में बने हुए हैं। पूर्व की ओर अभयसिंह, बख्त सिंह, विजयसिंह, भीम सिंह की भी छतरियां बनी हुई हैं। यहीं पर अलवर के बहादुर सिंह की भी छतरी विद्यमान है जो शायद जयपुर नरेश जगत सिंह के साथ युद्ध में जोधपुर के राजाओं के साथ युद्ध करते मारे जाने की स्मृति में बनवाई गई होगी। मान सिंह और तख्त सिंह की स्मृति में थड़े बने हैं। मंडोर से चार मील दूर प्राकृतिक पहाड़ पर पंचकुण्ड नामक स्थान तीर्थ माना जाता है जहां राव चूण्डा, राव रणमल, राव जोधा की छतरियां पाई जाती हैं। सबसे प्राचीन राव गांगा की छतरी समझी जाती है जिसमें खुदाई का काम उत्कृष्ट है। पंचकुण्ड के दक्षिण में मारवाड़ की रानियों की छतरियां स्थित हैं। इनमें महाराजा मानसिंह की कछवाही रानी की छतरी बत्तीस खम्भों पर सबसे बड़ी है। राव मालदेव के समय से मारवाड़ के अधिपतियों की छतरियां पंचकुण्डों के बजाय मण्डो[illegible] लगी थीं।

पुनर्जागरण काल—साहित्य और कला

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती के पुनर्जागरण काल को साहित्य का सृजनकाल कहा जाता है जिसका पूर्व और पश्चिम दोनों की जागृति में समान रूप से योगदान रहा। कला के क्षेत्र में देखें तो यह कहना उपयुक्त होगा कि पूर्व और पश्चिम दोनों ही महाद्वीपों में पुनरुत्थान काल मध्ययुगीन परम्परावादी धार्मिक रुचि का आंशिक रूप से लौकिक रूप में परिवर्तन था। इस युग में विचार स्वातंत्र्य, तर्क और जिज्ञासा द्वारा व्यक्ति का विकास हुआ और वह नवजीवन की ओर उन्मुख होने लगा।

तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनियां की जीत, यूनानी विद्वानों का शरणार्थी होकर इटली में प्रवास और उनके द्वारा विचारों का आदान-प्रदान, विद्या का प्रचार-प्रसार, वैज्ञानिक खोज तथा व्यापारिक विकास आदि इस नवीन आन्दोलन के प्रमुख कारण थे। पुनरुत्थान काल कारण का युग था जबकि पूर्वकाल विश्वास का युग था। इस काल के कलाकारों की प्रमुख विशेषता थी उनकी बौद्धिक जागृति। चित्रकला, सुलेख और हाशिये की सजावट की कला पश्चिमी तुर्किस्तान में हस्त लिखित ग्रन्थों में प्रारम्भ की गयी। सोलहवी शती में यह कला बुखारा से विभिन्न स्थानों में फैल गयी। भारत में राजाओं-बादशाहों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों में इन कलाओं के लिये रुचि हो गयी। मुगल दरबारो का विभिन्न राज्यों के शासकों के साथ जो सांस्कृतिक समागम हुआ वह भी कलाओं के प्रसार का एक कारण था। स्त्रियों की स्वामिभक्ति, उनके प्रेम, छोटों का बड़ों के प्रति आदर, आत्मा व परमात्मा का रहस्य, वीरता के आदर्श और भारतीय दर्शन से मुगल बादशाहों को इनकी उत्कृष्टता के लिये प्रेरणा मिली और तदनन्तर लेखकों और कलाकारों के लिये भी सोचने और चित्रण करने का सुअवसर मिला।

तुर्क-मंगोल विजेता, तैमूरलंग को सुलेख और चित्रकला से विशेष प्रेम था। भारत विजय के पश्चात जब वह स्वदेश वापिस जाने लगा तो कितने ही कलाकारों और सुलेखकों को समरकंद ले गया और वे संख्या में इतने अधिक थे कि वे नगर में नहीं बसाये जा सके और उनको गुफाओं और पेड़ों के नीचे आश्रय लेना पड़ा।

बाबर को भी कविता, सुलेख और चित्रकला का विशेष ज्ञान था। उसकी कविता बाबरनामे में, यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह करना और उनकी देखरेख करना तैमूरी परम्परा का द्योतक था। बाबर अपने साथ भारत में बहुत से ग्रन्थ लाया था।

हुमायूं जो कि पच्चीस वर्ष के बाद अपने पिता के रोजनामचे का पठन करता था, अपने पैतृक पुस्तकालय को और अपनी प्रिय पुस्तकों को लड़ाई के समय में भी अपने साथ ले जाता था। उसके निष्कासन और विभिन्न स्थानों पर घूमने के समय में भी बाबर के रोजनामचे के कुछ अध्याय खो गये थे। हुमायूं ने दिल्ली में एक नये धर्म की नींव डाली जिसको दीने पनाह कहते थे और जहां दार्शनिक और कवियों को सम्मानित किया जाता था। विद्वान शरणार्थी दिल्ली मे आने लगे और दिल्ली हिरात और समरकंद की परम्पराओं का एक केन्द्र बन गया। हुमायूं को ज्योतिष में भी बहुत रुचि थी और बालक अकबर की जन्मपत्री बनाने में उसने स्वयं रुचि ली थी। कामरान पर विजय पाने के पश्चात पुस्तकों से लदे हुये दो ऊंट पुनः हस्तगत कर लेने से, जो कि कामरान ने पहले किसी हमले के समय मे पकड़ लिये थे, हुमायूं को सबसे बड़ी खुशी हुई थी। यही इस बात का प्रमाण है कि मुगल बादशाह ग्रन्थों का कितना बड़ा मूल्यांकन करते थे।

शेरशाह के विशाल अठपहलू भवन शेर मण्डल में साहित्यिक परामर्श होते थे, जिसको कि हुमायूं ने पुस्तकालय में परिवर्तित कर दिया था। हुमायूं को विद्वानों से कितना लगाव था यह इसी से सिद्ध होता है कि वह उसी पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिरकर मर गया जहां कुछ देर पूर्व वह ज्योतिषियों के साथ परामर्श कर रहा था। हुमायूं ने निष्कासन के समय में शाह तहमास्प के सभी दरबार के प्रख्यात दरबारी चित्रकार मीर सईयदअली और अब्दुस्समद तबरेजी से परिचय प्राप्त किया जो उसके दरबार में आ गये जबकि उसने काबुल मे अपना शासन स्थापित किया। इस काल की महत्वपूर्ण कृति दास्तान-ए-अमीर हमजा के चित्र साउथ केंसिंगटन संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

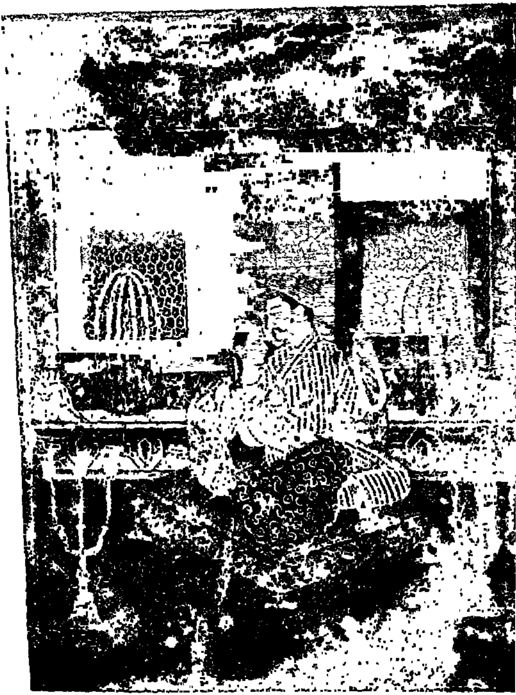
अकबर महान् जो कला और साहित्य के संरक्षण के लिये प्रसिद्ध था और जो धार्मिक सहिष्णुता के नये सम्प्रदाय दीने इलाही की नींव डालने वाला था, स्वयं अशिक्षित था परन्तु उसे पुस्तकों से असीम प्रेम था। उसने एक पुस्तकालय स्थापित किया जिसमें 24000 पुस्तकें थीं। यह पुस्तकालय विभिन्न भाषाओं हिन्दी, फारसी, यूनानी कश्मीरी, अरबी की पुस्तकों को विषयान्तर्गत विभाजित किया था। गुलिस्तां, बोस्तां, शाहनामा, खमसा-ए-निजामी, दिवान ए खाकान, बादशाह के सामने पढ़े जाते थे। हरिवंश, नलदमन, महाभारत और नल दमन का संस्कृत से फारसी में

अनुवाद किया गया और चित्रित किये गये। एक अनुवाद विभाग भी फतेहपुर सीकरी के एक कमरे में स्थापित किया गया जहां तुर्की, संस्कृत, हिन्दी और यहां तक कि लेटिन साहित्य का फारसी में अनुवाद होता था। (लेटिन ईसा ई धर्म प्रचारकों द्वारा लाई गई थी) अकबरनामा और आईने अकबरी अब्बुल फजल की अभूतपूर्व कृतियां थीं। फैजी दरबार में कवि सम्राट की उपाधि से सुशोभित था। लेखन शैली की कई प्रणालियां उस समय में प्रचलित थीं जिनका उद्गम कूफी के वर्णाक्षरों में हुआ जिनके नाम खत-ए-रुगरा, खत-ए-गुलजार, खत-ए-नस्ख आदि थे। अलीविन हुनाल, याकूत, सोहरावर्दी, मुबारकशाह, युसूफ शाह, अब्दुल्ला शरफी, मौलाना पीराजी, सुल्तान इब्राहीम, मोहम्मद कजबीन, इद्रीस, इफ्तिखार, मोहम्मद हुसैन कश्मीरी, सुल्तान बैयाजिद उस काल के प्रसिद्ध सुलेखक थे। खते नस्तालिक बहुत प्रचलित था। अकबर के समय में चित्रकला का बहुत उत्थान हुआ। संस्कृत काव्यों का अनुवाद फारसी में किया जाता था और चित्रकार उन्हें चित्रित करते थे।

अकबर काल को कला की दृष्टि से स्वर्ण युग कहा जा सकता है। पश्चिम में एलिजाबेथ के स्वर्णयुग में केवल साहित्य का सृजन हुआ परन्तु भारत में अकबर के स्वर्ण युग में साहित्य और कला दोनों समान रूप से विकसित हुए। अकबर को चित्रकला से बड़ा अनुराग था। वह प्रति सप्ताह चित्रकारों के काम का निरीक्षण करता था और उनकी कुशलता के अनुसार उन्हें पुरस्कृत करता था। अकबर चित्रकला को ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करने का एक साधन समझता था, ऐसा अबुल फजल ने लिखा है। उसके समय में अब्दुस्समद, मीर सैयद अली, फरूखबेग, दसवन्त, बसावन, सांवलदास, ताराचन्द, जगन्नाथ आदि कलाकार थे।

इन कलाकारों ने चंगेजनामा, जफरनामा, रामायण, नल दमन, कालिया दमन आदि ग्रन्थों को चित्रित किया। अकबर चाहता था कि मुसलमान और हिन्दू एक दूसरे के धर्म ग्रन्थों और साहित्य से परिचित हों और उनमें भेदभाव न रहे। अतः उसने हिन्दू ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करवाया। हिन्दू और मुसलमान चित्रकारों ने एक होकर उन्हें चित्रित किया अतः अकबर अपने उद्देश्य में सफल हुआ। ईसाई मिशन द्वारा यहां धर्म प्रचार और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण यूरोपीय कला से भारतीय कलाकारों का सम्पर्क हो गया। ईसाई पादरी बहुत से चित्र बादशाह को देने के लिये लाये थे और उसने भारतीय चित्रकारों से उनकी प्रतिलिपियां करवाई थीं। आगरा में अकबर ने जान बैप्टिस्ट, एन्थेनी बेर्नाडाईन, ईसा मसीह और अन्य ईसाई महात्माओं के भित्ति चित्र बनवाये। किले के झरोखे में पुर्तगाली सिपाहियों, सैन्टपाल सिगोरी और एम्ब्रोसे के चित्र बनवाये। अंग्रेजी पुस्तकों में से अकबर स्वयं ऐसे विषय छांटता था जिनको चित्रकार चित्रित कर सकते थे। अतः यूरोपीय कला की यथार्थवादी शैली का इस प्रकार भारतीय

कला में समावेश हो पाया। अकबर पश्चिमी बन्दरगाहों में स्थापित विदेशी सौदागरों की संस्कृति और कला से प्रभावित हुआ तथा उसने पुर्तगाली अफसर भी नौकर रक्खा। दक्षिण में केवल व्यापारिक संबंध ही नहीं, धार्मिक संबंध भी अपना जोर पकड़ता जा रहा था। ईसाई पादरी अपने धर्म का प्रचार करने में उद्यत थे और इन्हीं के द्वारा पश्चिमी कला के लक्षण भारत में आने लगे। 1570 में इन पादरियों के दस्ते में एक लिस्बन का मर्नेहा नामक पादरी बहुत ही कुशल चित्रकार और दस्तकार गोआ में आया जिसने दक्षिण के कितने ही गिर्जों में अपने हाथ से कारीगरी और चित्रकारी की। यह पादरी कितनी ही अद्भुत प्रभावोत्पादक दस्तकारी की वस्तुएं अपने साथ लाये थे जिनको देखकर अकबर मुग्ध हुआ और उन लोगों को अपना धर्म प्रचार करने की सुविधायें दी। अकबर उन कलाओं का भारत में भी प्रचार करना चाहता था तथा इस उद्देश्य से उसने 1578 में हाजी हबीबुल्लाह को पश्चिमी दस्तकारियों की जानकारी प्राप्त करने और उन्हें देश में लाने के लिये गोआ भेजा। हाजी को बहुत सा धन केवल इस हेतु दिया गया था कि वह जितना हो सके उन कला वस्तुओं को खरीद कर लावे। हाजी निस्सदेह बहुत सा सामान खरीदकर लाया। इतना ही नहीं, उसने मुगल कलाकारों को वहां प्रशिक्षण दिलवाया तथा यूरोपियन कलाकारों को साथ भी लाया। अकबर ने यूरोपियन सौदागरों को यह स्वतन्त्रता दे दी कि वे भारत के साथ अपने व्यापारिक संबंध निःसंकोच जोड़ें। अकबर ने ईसाई धर्म में भी विशेष रूप से इसी हेतु रुचि ली कि वह विदेशियों से सम्बध स्थापित कर उनकी कला और संस्कृति की जानकारी प्राप्त करना चाहता था। उसने 1579 में गोआ से एक ईसाई मिशन फतेहपुर सीकरी में बुलाया और इसी के द्वारा उसने यूरोपियन चित्रकारी का ज्ञान प्राप्त किया। इस मिशन के रहने के लिये फतेहपुर सीकरी के महल में एक "मरियम भवन" भी बनवाया गया था जिसमें विशाल अंग्रेजी भित्ति चित्र बनाये गये थे। पादरियों न यह भलीभांति जान लिया था कि अपने धर्म द्वारा राजनीति को जमाने के लिये बादशाह की सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है और वह उसकी कलात्मक रुचि के पोषण द्वारा ही सुलभ हो सकती है। अतः अपने ध्येय को सफल बनाने के लिये वे अपने साथ यूरोपियन साधुओं और धार्मिक विषयों के नाना चित्र लाये। इन चित्रों पर सम्राट और पादरियों के बीच जटिल वाद-विवाद होते थे। उन्होंने प्लाटिन की रायल पॉलिगलाट बाइबिल भी सम्राट को भेंट की, जो 1569–72 में स्पेन के फिलिप द्वितीय के समय में छपकर तैयार हुई थी। यह पुस्तक सचित्र थी जिसे देखकर अकबर मुग्ध हुआ और उसने अपने शाही कुतुबखाने में रखवाने की आज्ञा दी। इस पुस्तक को मुगल चित्रकारों ने बहुत ध्यान से देखा और उसकी यूरोपियन चित्रों की शैली को अपनी कला में अपनाया। दरबारी चित्रकार केसू ने पुस्तक का अध्ययन किया और ईसाई शैली का अपने चित्रों में प्रयोग कर एक मुरक्का तैयार किया। अकबर के



कला में समावेश हो पाया। अकबर पश्चिमी बन्दरगाहों में स्थापित विदेशी सौदागरों की संस्कृति और कला से प्रभावित हुआ तथा उसने पुर्तगाली अफसर भी नौकर रखता। दक्षिण में केवल व्यापारिक संबंध ही नहीं, धार्मिक संबंध भी अपना जोर पकड़ता जा रहा था। ईसाई पादरी अपने धर्म का प्रचार करने में उद्यत थे और इन्हीं के द्वारा पश्चिमी कला के लक्षण भारत में आने लगे। 1570 में इन पादरियों के दस्ते में एक लिस्बन का अर्नहा नामक पादरी बहुत ही कुशल चित्रकार और दस्तकार गोआ में आया जिसने दक्षिण के कितने ही गिर्जों मे अपने हाथ से कारीगरी और चित्रकारी की। यह पादरी कितनी ही अद्भुत प्रभावोत्पादक दस्तकारी की वस्तुएं अपने साथ लाये थे जिनको देखकर अकबर मुग्ध हुआ और उन लोगों को अपना धर्म प्रचार करने की सुविधायें दी। अकबर उन कलाओं का भारत में भी प्रचार करना चाहता था तथा इस उद्देश्य से उसने 1578 में हाजी हबीबुल्लाह को पश्चिमी दस्तकारियो की जानकारी प्राप्त करने और उन्हें देश में लाने के लिये गोआ भेजा। हाजी को बहुत सा धन केवल इस हेतु दिया गया था कि वह जितना हो सके उन कला वस्तुओं को खरीद कर लावे। हाजी निस्सदेह बहुत सा सामान खरीदकर लाया। इतना ही नही, उसने मुगल कलाकारों को वहा प्रशिक्षण दिलवाया तथा यूरोपियन कलाकारों को साथ भी लाया। अकबर ने यूरोपियन सौदागरों को यह स्वतन्त्रता दे दी कि वे भारत के साथ अपने व्यापारिक संबंध निःसंकोच जोड़ें। अकबर ने ईसाई धर्म में भी विशेष रूप से इसी हेतु रुचि ली कि वह विदेशियों से सम्बध स्थापित कर उनकी कला और संस्कृति की जानकारी प्राप्त करना चाहता था। उसने 1579 मे गोआ से एक ईसाई मिशन फतेहपुर सीकरी में बुलाया और इसी के द्वारा उसने यूरोपियन चित्रकारी का ज्ञान प्राप्त किया। इस मिशन के रहने के लिये फतेहपुर सीकरी के महल में एक "मरियम भवन" भी बनवाया गया था जिसमें विशाल अंग्रेजी भित्ति चित्र बनाये गये थे। पादरियों न यह भलीभांति जान लिया था कि अपने धर्म द्वारा राजनीति को जमाने के लिये बादशाह की सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है और वह उसकी कलात्मक रुचि के पोषण द्वारा ही सुलभ हो सकती है। अतः अपने ध्येय को सफल बनाने के लिये वे अपने साथ यूरोपियन साधुओं और धार्मिक विषयों के नाना चित्र लाये। इन चित्रों पर सम्राट और पादरियो के बीच जटिल वाद-विवाद होते थे। उन्होंने प्लाटिन की रायल पॉलिगलाट बाइबिल भी सम्राट को भेंट की, जो 1569–72 में स्पेन के फिलिप द्वितीय के समय मे छपकर तैयार हुई थी। यह पुस्तक सचित्र थी जिसे देखकर अकबर मुग्ध हुआ और उसने अपने शाही कुतुबखाने मे रखवाने की आज्ञा दी। इस पुस्तक को मुगल चित्रकारों ने बहुत ध्यान से देखा और उसकी यूरोपियन चित्रों की शैली को अपनी कला में अपनाया। दरबारी चित्रकार केसू ने पुस्तक का अध्ययन किया और ईसाई शैली का अपने चित्रों मे प्रयोग कर एक मुरक्का तैयार किया। अकबर के



राज्यकाल मे ऐसे कितने ही धर्म संबंधी चित्र बने और यह प्रथा जहांगीर के समय तक चलती रही। इस शैली के कितने ही चित्र ब्रिटिश म्यूजियम में मौजूद हैं। भारतीय चित्रकार का बनाया हुआ "वर्जिन" का चित्र बाडेलियन लायब्रेरी में मौजूद है। वाशिंगटन म्यूजियम में भी ऐसे कितने ही चित्र हैं।

1595 में तृतीय ईसाई पादरी मिशन के साथ लाहौर में एक पुर्तगाली आया जो कलाकार था। अकबर ने उसे "वर्जिन" का चित्र तैयार करने को कहा। अकबर ने दिनोदिन यूरोपियन कला को प्रोत्साहन देकर नये कलाकारों को इस बात के लिये उत्साहित किया कि वे यूरोपीय कला का भारतीयकरण कर दें। यह भलीभांति विदित हो गया कि अकबर की कलात्मक रुचि ने विदेशियों को यहां किस रूप में स्थापित किया। अकबर ने विदेशी कला मे रुचि दिखलाई परन्तु जहांगीर ने उससे भी अधिक भाग लिया।

युवावस्था में जहांगीर यूरोपीय चित्रों से प्रभावित हुआ और उन्हीं को देखने के लिये उसने ईसाई मिशन के सदस्यों से मित्रता की। 1602 में उसने एक ताबीज पहना जिसमें ईसा और वर्जिन के चित्र अंकित थे। 1605 में जब वह सिंहासन पर बैठा तो यूरोपियन चित्रों में और भी अधिक रुचि रखने लगा। सर टामस रो ने लिखा है दौलतबाग में, जो आनासागर झील पर, बनवाया गया था; उसने फ्रांस के राजाओं के चित्र बनवाये। इस विदेशी राजनीतिज्ञ ने समझ लिया था कि बादशाह को चित्रों से अत्यधिक प्रेम है अतः चित्रों द्वारा ही उसको राजनीतिक ध्येय में सफलता मिल सकती है। 1615 में उसने इंगलैंड से बहुत से चित्र बादशाह को भेंट करने हेतु मंगवाये। उसी समय अपने विदेशी डायरेक्टरों को भी उनके यहां के चित्र भेजने को भी लिखा। 1617 में बादशाह को भेंट स्वरूप देने के लिये एक पेटी आई जिसको दरबार मे खोला गया। इस पेटी में वीनस और सटायर के भी चित्र निकले जिनके विषय मे रो ने दरबारियों को विशेष रुचि से समझाये। रो ने बहुत से तेल चित्र भी मंगवाये जिनमें अधिकतर आकृति चित्र थे परन्तु इनमें एलिजाबेथ और सर टामस स्मिथ के अधिक महत्वपूर्ण थे। इन बहुत से चित्रों में से दो तो सम्राट ने दरबार भवन मे लगवाये और दो सिंहासन के पीछे। भारतीय कलाकारों को आज्ञा दी गयी कि वे ऐसे आकृति चित्रों की प्रतिलिपियां तैयार करें। यही नहीं बादशाह चित्रों में ही रुचि रखता था। उसने अपने सिंहासन को भी यूरोपीय कारीगरी से सुशोभित करवाया। यह सिंहासन पैंतालीस हजार रुपयों में तैयार हुआ था और नूरजहां के बाद इतमादुद्दौला ने बादशाह को भेंट स्वरूप दिया था। इस सिंहासन में काम करने वाले यूरोपियन कलाकार को बादशाह ने "हुनरमंद" के खिताब से सुशोभित किया।

ईसाई शैली के प्रभाव से भारतीय चित्रों में बादशाह के दोनों तरफ पंखों वाली परियां बनाई जाने लगीं। यह परियों का प्रतीक एशिया से यूरोप गया और फिर यूरोप से भारत में आया। यह प्रतीक केवल बादशाहों के चित्रों में ही प्रयोग किया जाता था और कोई भी प्रतिष्ठित राज्याधिकारी इसे अपने चित्र में नहीं बनवा सकता था।

जहांगीर को कला में अकबर से अधिक प्रेम था। उसके राज्य की शान्ति व्यवस्था ने कला की उन्नति में योग दिया। वह स्वयं चित्रों का बहुत बड़ा पारखी था। एक ही चित्र में अनेक चित्रकारों के हाथ की कारीगरी को भी वह पहचान लिया करता था। उसके समय में चित्रकला के अनेक विषय थे जिनमें होकर एक ही चित्र अनेक कलाकारों द्वारा समाप्त किया जाता था। वसली बनाने वाले, रंग बनाने वाले, टिपाई करने वाले (उनमें भी पृथक-पृथक विषय के कुशल चित्रकार अपना-अपना हाथ दिखलाते थे), रंग लगाने वाले, भिन्न-भिन्न काम करने वाले कारीगर एक चित्र को अनेक रूपों में समाप्त करते थे।

उसको यूरोपीय चित्रों से भी प्रेम था और ईसाई धर्म सम्बन्धी अनेक धार्मिक चित्र अपने संग्रह में अवाप्त किये। उसने कश्मीर में एक कलादीर्घा स्थापित की जिसमें उसके दरबारी कलाकारों के कार्य का निरीक्षण करता था और उनकी अच्छी कृतियों के लिए उन्हें पुरस्कृत करता था। अबुल हसन और अकारिज़ा उसके समय में प्रतिभावान चित्रकार थे। उनमें से अबुल हसन को नादिर उज्जमान की उपाधि से सुशोभित किया गया। मंसूर चिड़ियों के लिये प्रसिद्ध था और बिशन सादृश्य चित्रों के लिये। जहांगीर के दरबारी चित्रशाला की सुदृढ़ स्थिति देखकर बहुत से कलाकारों ने ईरान का दरबार छोड़ दिया और भारत में आकर बस गये और जहांगीर की चित्रशाला में कार्य करने लगे। गोवर्धन, केशवदास, मिसकीन, मनोहर, माधव, तुलसी, बिशनदास और दौलत आदि चित्रकारों ने विभिन्न प्रकार के कार्यों में ख्याति प्राप्त करली। जहांगीर कलाकारों को युद्ध और शिकार के दृश्यों पर ले जाता था और वे वहां की यथार्थ स्थिति को देखकर चित्र बनाते थे।

हाशिये की सजावट के लिए सुनहरा चित्रण करने की प्रथा मुगलकाल में हस्त लिखित ग्रन्थों को सुन्दर बनाने के लिये ही नहीं चली बल्कि चित्र की वसली को सजाने के लिये और सुलेख को सजाने के लिए भी चली थी। आम तौर पर अलङ्कृत रूपांकन हाशियों पर बनाये जाते थे परन्तु विशेष रूप से पौधे, लड़ाई के दृश्य, चिड़ियें और शिकारी जानवर भी अलंकृत किये जाते थे। यदा-कदा चट्टानों वाली पृष्ठभूमि जिसमें वृक्ष और झाड़ियां होती थीं, भी बनाई जाती थी। खुशखत, व्यक्ति की योग्यता के होने के कारण निर्णय के लिये, एक मापदण्ड समझा जाता था और राज्य सेवा में दाखिल होने के लिये भी एक आवश्यक योग्यता समझी

जाती थी। फकीर अली, मीरअली, अली-अल-कातिब और सुलतान इत्यादि जहांगीर काल के बड़े प्रख्यात खुशखत लिखने वाले थे जो नस्तालीक शैली में लिखा करते थे।

शाहजहां भी शैक्षणिक गतिविधियों में रुचि लेता था। रात्रि को बिस्तर में दाखिल होने के वक्त तक वह इतिहास, साधु सन्तों के जीवन की पुस्तकें और परिभ्रमण सम्बन्धी पुस्तकें सुनना पसन्द करता था। इनके अतिरिक्त वह अपने बाबा (बाबर) की स्फुरण देने वाली कृति "बाबरनामा" के कुछ अंश सुना करता था। शुक्रवार के अतिरिक्त जब दरबार नहीं लगता था यह कार्यक्रम प्रतिदिन चला करता था। उसकी हिन्दू संगीत और कविता में बड़ी रुचि थी और इनको प्रोत्साहन देता था। निस्सदेह हिन्दी साहित्य के लिये उसका राज्यकाल स्वर्ण युग समझा जाता था। वह अपने वरिष्ठ और प्रिय पुत्र दाराशिकोह के विचारों से अधिक प्रभावित था जो कि भारतीय दर्शन का एक जागरूक विद्यार्थी था और उसने उपनिषदों का स्वयं फारसी भाषा में अनुवाद किया था। जहांगीर के समय के चित्रकारों को शाहजहा के समय में भी वही स्थान मिलता रहा जो पुराने समय में मिलता था। गोवर्धन, मीर हाशिम, विचित्र, फकीरल्लाह और चित्रमणि शाहजहां के समय के प्रख्यात चित्रकार थे। दाराशिकोह भी चित्रकला को बहुत प्रोत्साहन देता था इसका प्रमाण उसके व्यक्तिगत कला संग्रह के एक मुरक्के से मिल जाता है जो अब इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में संग्रहित है।

शाहजहा के समय में विदेशी कला को प्रोत्साहन दिया गया पर उतना नहीं जितना उसके पूर्वजों के समय में। इसलिये विदेशी कलाकार अपना रोजगार चलाने के लिये भारत में अधिक संख्या में नहीं आये। कुछ ऐसे अन्य कारण अवश्य हुये जिनसे मुगलकला में पाश्चात्य प्रभाव पडता रहा। ईरान के शाह अब्बास द्वितीय ने, जो पाश्चात्य कला का अनुरागी था अपने यहां के कुछ ईरानी युवक कलाकारों को यूरोप के कला केन्द्रों में कला का अध्ययन करने के लिये भेजा। इनमें से एक ने रोम की चित्रशाला में अध्ययन किया। वहां वह ईसाई हो गया और इस कारण से वापस ईरान मे रहने की उसे इजाजत नहीं दी गयी अतः उसने मुगल दरबार की शरण ली। इस चित्रकार का नाम मुहम्मद जमाल था, जिसकी कला के नमूने ब्रिटिश म्यूजियम में मौजूद हैं। इस कलाकार के दिल्ली में रहने के कारण उसकी कला का शाहजहां काल की कला पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। चित्रों में लहरदार बादल, इन्द्रधनुष और परियों का चित्रण उसी की शैली के प्रभाव से भारतीय चित्रों मे प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त अधिक छाया प्रकाश दृष्टिक्रम और पृष्ठभूमि का सुचारु प्रयोग पाश्चात्य शैली द्वारा ही भारतीय चित्रकला में किया गया।

औरंगजेब को धार्मिक-अभिलेखों और फारसी आलोचनाओं के अतिरिक्त साहित्य में बहुत कम रुचि थी। कुरान में चित्रकला वर्जित होने के कारण वह

उसमें अधिक रुचि नहीं रखता था। शाही चित्रकला को व्यवस्थित रखने में उसने बहुत कम प्रयत्न किये, नतीजा यह हुआ कि दरबारी चित्रकार बिखर गये और उन्हें दूसरे स्थानों पर आश्रय लेना पड़ा।

19वीं शती के प्रारम्भ में कलाकारों ने दिल्ली से बाहर पड़ौसी रियासतों में आश्रय पाया।

बहादुरशाह द्वितीय एक बहुत अच्छा कवि था। परन्तु उसको गदर की मुसीबतों का सामना करना पड़ा था और अन्त में बर्मा में उसका निष्कासन हुआ जहां उसकी मृत्यु हो गयी। असंख्य साहित्यिक कृतियां और कला की वस्तुयें नादिरशाह के आक्रमण के समय अग्नि के समर्पित हो गयीं। बेहिसाब कला साहित्य की सामग्री तो युद्धों में नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी, बाकी गदर के जमाने में शाही खजानों से निकल कर तितर-बितर हो गयी और अनजान लोगों के हाथों में पड़ गयी। अंग्रेजी संस्कृति ने अपना प्रभुत्व जमा लिया। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते ही तत्कालीन कला हैदराबाद, लखनऊ और पटना आदि स्थानों पर चली गयी और वहां इसका स्वरूप विकृत होकर अवनति की ओर पहुंच गया। यूरोपीय चित्रों की नकलें की जाती थीं, परन्तु बेढंगी। जहांगीर के पश्चात कितने ही चित्रकार केटल हाउस, जाफनी, लाग क्राफ्ट और होम 18वीं शती के उत्तरार्ध में भारत आये और उन्होंने यहां के बड़े-बड़े नगरों में अपना व्यवसाय चलाया। उनकी देखादेखी भारतीय कलाकार भी कैनवास पर तेल रंगों के बड़े-बड़े चित्र बनाने लगे। यूरोपिय कला के साथ अंग्रेजी राज्य की नींव भारत में दृढ़ता से जम गयी थी। और उस कला के प्रभाव अब तक भारतीय कला में विद्यमान हैं।

राजपूत राजाओं ने भी बादशाहों की देखा-देखी कला को प्रोत्साहन दिया। राजपूत शैली में धार्मिक और साहित्यिक विषयों का प्राधान्य होता था जो रेखाओं और केवल प्रखर रंगों में अपनी विशेषता प्रस्तुत करती थी। उसी राजपूत शैली के अन्तर्गत कला मर्मज्ञों ने अनेक शैलियों की खोज की है जिन्हें जयपुर, किशनगढ़, बीकानेर, उदयपुर, अलवर, कोटा और बूंदी नामों से बोला जाता है। राजपूत शैली में ऐसा माधुर्य उत्पन्न हुआ जिसने मुगल शैली की यथार्थवाद की जड़ता को दूर कर दिया और कलाकार की आत्मा मुखरित हो उठी।

□

संस्कृति की अविरल धारा—कला परम्परा

"कलाना प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थ मोक्षदम्"—विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार चित्रकला को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ एवं धर्मार्थकाम मोक्षादि का दाता माना गया है। कल्पना को अभिव्यक्त करना कला है। कला भाव की उस अभिव्यक्ति को कहते है जो तीव्रता से मानव हृदय को स्पर्श कर सके। कलाकार के चेतन, अवचेतन मन की संवेगात्मक अभिव्यक्ति कला है जिसमे रग, आकार, गति, संयोजन आदि का समावेश होता है। कला के दो भेद माने गये हैं। एक उपयोगी और दूसरी ललित। शिल्प भी ललित की श्रेणी मे आती है परन्तु उसमें निर्माण का माध्यम अधिक और अभिव्यक्ति में सीमायें है। परम्परा का अर्थ है अनन्त दूरी-दूरी वहां तक सम्बन्धित है जहा मनुष्य आदिम अवस्था में बर्बर असभ्य आखेट की तलाश में भ्रमण करता फिरता था, द्राविड़ों के समय में नागरिक सभ्यता सिन्धु घाटी मे पनपी जहां मृद्भाण्डों पर विविध चित्र तथा छापों पर चित्रलिपि पुरातात्विक अन्वेषणों द्वारा उपलब्ध हुये हैं। यह सभ्यता दजला फरात नदियों की घाटी तथा नील नदी के तट तक विस्तृत थी। अनुमानत: आर्य लोग मध्य एशिया से आकर इस देश मे बस गये। उन्होंने द्राविड़ो को परास्त किया और आर्य और द्राविड़ संस्कृति मिलजुल कर एक हो गयी।

वैदिक सभ्यता का उदय हुआ जो निरन्तर विस्तृत होती हुई इतिहास काल तक जा पहुंची।

वात्स्यायन ने तीसरी शताब्दी में काम सूत्र में चौसठ कलाओं के साथ चित्रकला का उल्लेख किया है। संस्कृत के नाटककार भास ने दूत वाक्य एकांकी मे चित्रों की विशेषता का उल्लेख किया है। स्वप्न वासवदत्ता नामक नाटक मे उदयन और वासव दत्ता के पाणिग्रहण के समय का चित्र महासेन द्वारा प्रेषित करने का उल्लेख है। महाभारत में राजकुमारी ऊषा द्वारा स्वप्न में अनिरुद्ध को देखकर चित्र बनाने का उल्लेख है। उसकी सखी चित्रलेखा चित्र-कर्म में कुशल थी। कालिदास के ग्रन्थों मालविकाग्निमित्र नाटक व मेघदूत में चित्र बनाने का उल्लेख है। भवभूति के उत्तर रामचरित में कई भित्ति चित्रों का उल्लेख हुआ है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण, शुक्र नीतिसार, बृहत्संहिता ग्रन्थों में चित्रकला की विशद व्याख्या की गयी है और वास्तव में वही हमारी कला की परम्परा है जिसमें कला के नियम, सिद्धान्त आदि का समावेश है। इन नियमों और सिद्धान्तों को समझने से ही विदित हो सकता है कि हमारी धर्म से संबंधित गुफा भित्ति कला की क्या विशेषता है जो संसार की अन्य कलाओं से सर्वथा भिन्न है।

मानसोल्लास के रचयिता सोमेश्वर के मतानुसार चार प्रकार के चित्र होते हैं। विद्ध चित्र, अविद्ध चित्र, रस चित्र और धूलि चित्र। दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान सादृश्य चित्र जिसमें ठीक-ठीक प्रतिकृति की गयी हो, विद्ध चित्र कहते हैं।

कल्पना और भावों के आवेग में अंकित किया हुआ चित्र अविद्ध चित्र कहलाता है। नव रसो में से किसी एक रस की प्राप्ति किसी चित्र मे हो उसे रस चित्र कहते हैं। भाति-भाति के रगों के चूर्ण को भूमि पर बुरक कर सांझी के समान आकृतियां अकिन की गयी हों उन्हें धूलि चित्र कहते है। चित्रण के लिये समतल वस्तु मुख्यतः काष्ठ, कपड़ा, दीवार, फलक आदि अनिवार्य है, इस प्रकार इसके तीन भेद हो जाते हैं भित्ति चित्र, चित्रपट और चित्रफलक। चित्र रचना के साथ ही साथ उसके आठ गुण भी बतलाये गये हैं अर्थात् स्थान, प्रमाण, भूलम्भ, मधुरत्व, विभक्तना, सादृश्य, क्षय एवं वृद्धि। अस्पष्टता, विषमता, अविभक्तता, अविरुद्धता और उसमता चित्र के दोष बतलाये गये हैं। चतुर चित्रकार वही कहा जाता है जो दोषो का परित्याग कर गुणों को ग्रहण करे। देवी-देवताओ के चित्रांकन के समय गुण-दोष पर अधिक ध्यान दे। चित्र शास्त्रानुकूल होना अनिवार्य है।

यशोधर नामक प्राचीन विद्वान ने कला के छः अंगों पर एक श्लोक उद्धृत किया है जो कला के व्याकरण को प्रकाशित करता है—

कला रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्य योजनम ।।
सादृश्यम वर्णिका भगम एतद् चित्र षडग कम ।।

पीपल की लाख से हिंगुल रंग, गोमूत्र से पीला गोगोनी, ताम्बे के जंग से हरा, जंगाल, रांग से रांग की हिलकारी, सोने से सोने चांदी की हिलकारी, हरिताल, नील, गेरू, पेवड़ी, हरा माटा से हरा, लाजवर्द से नीला, मुक्ता व सीप भस्म से सफेद, कपूर के काजल से काला व अन्य पत्थरों से रंग तैयार किया जा कर कलाकार वांछित परिमाण में प्रयोग करता है। रंग ठंडे और गर्म दोनो प्रकार के होते हैं। मुख्य रंगो से अन्य सारे रंग बन जाते हैं। रंगों के नाना प्रकार के प्रभाव होते हैं। भित्ति तैयार करने की भी विधि बतलायी गयी है—ईंट का चूर्ण, मिट्टी, गुग्गुल मोम, महुआ, गुड़, हर्रे बेल निर्धारित मात्रा में लेकर कुशल कारीगर प्रायतन तैयार

करे—परन्तु संगेमरमर का चूर्ण और शोधित चूने से भी धरातल तैयार किया जाता है। चावल की भूसी मिट्टी और गोबर से तैयार किया धरातल पर भी चित्र बने मिलते हैं। कपड़े, भोजपत्र और चमड़े पर भी चित्र बनाये जाते थे, उनकी पृष्ठभूमि बनाने की पृथक् विधियां वर्णित हैं।

चित्र में राजा, ऋषि, गन्धर्व और ब्राह्मण को भद्र आकार का दिखाना चाहिये। आकाश तारों से सुशोभित पक्षियों से भरा हुआ—पृथ्वी को वन की सुन्दर वस्तुओं से युक्त, पर्वतों को शिला समूहों, शिखरों, धातुओं, वृक्षों और झरनों से युक्त दिखलाया जाता है। इस प्रकार हर प्रकार के चित्रण के लिये विधि विधान हमारी परम्परा में मौजूद है।

चित्र में नवरसों के अनुकूल भाव दिखलाना प्रासगिक होता है। युद्ध, श्मशान, मृत्यु, दुखान्त तथा कुत्सित भावनाओं को हमारे यहां चित्रों में वर्जित किया गया है यही कारण है प्राचीन चित्रों मे ऐसे दृश्य कभी नहीं उपलब्ध होते यहां तक कि लोक जीवन का अंकन भी बहुत ही कम देखने को प्राप्त होता है। शृंगार और शान्त रसों को चित्रित किया जाना चाहिये। शरीर के विभिन्न अंग, प्रत्यंगो का भी विधिवत परिमाण माना गया है और उसी के अनुरूप चित्र बनाया जाना चाहिये। उसकी बहुत विस्तृत व्याख्या है। शास्त्रज्ञ पुण्यात्मा तथा चतुर चित्रकारों द्वारा निर्मित चित्र शीघ्र लक्ष्मी प्राप्त कराता है, दरिद्रता दूर करता है, उत्कण्ठा दूर करता है, भविष्य को उज्ज्वल तथा प्रेम को विस्तृत करता है। कला का उपरोक्त व्याकरण व सिद्धान्त ही हमारी परम्परा है जो बौद्धकाल की चित्रकला में पूर्ण रूपेण दृष्टिगत होती है। ईसवी शताब्दी के उदय के साथ भारतीय कला के इतिहास में स्वर्ण युग प्रस्फुटित हुआ। बौद्ध धर्म सम्पूर्ण देश पर अपना प्रभाव स्थापित कर चुका था और व्यापक रूप से देश की जनता बौद्ध धर्म ग्रहण कर चुकी थी, यह उन्नति सातवीं शती तक भली प्रकार चलती रही। बौद्ध धर्म की सहिष्णुता और उदारता के कारण भारत को ख्याति प्राप्त हो रही थी। लंका, जावा, श्याम, ब्रह्मा, नेपाल, तिब्बत, जापान, सुमात्रा, बोर्नियो देशों की कला पर बौद्ध धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव पडा। इस सब स्थानों की चित्रकला के अवशेष इस बात का प्रमाण हैं। अलंकारिक आलेखनों को छोडकर अजन्ता के अधिकांश चित्रो का विषय बुद्ध की जीवन कथायें तथा जातक कथायें हैं। धर्म प्रचारार्थ ही यह चित्र गुफाओ में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा चालुक्य राजाओं के समय मे बनाये गये थे। इन गुफाओ में कुछ चैत्य गुफाओं को छोड़कर शेष विहार गुफायें हैं।

बासिलबासल गुफा चित्रों का समय ईस्वी सन के प्रारम्भ से सातवीं शती तक का है। चित्रों में बुद्ध जातक कथाओ के अतिरिक्त अन्य विषय नर्तकिया, गायक,

सवारी, घुड़सवारी, शिव विवाह, विद्याधर, अर्द्धनारीश्वर इत्यादि के दृश्य भी चित्रित हैं। इन गुफा चित्रों में प्रलम्ब अर्द्ध निमीलित नेत्र, पीन पयोधर, त्रिभंगी मुद्रायें, आजानु भुजायें, उत्तरीय, उष्णीश, केश सज्जा, आभूषण, भारतीय परम्परा को साकार करते दिखाई देते हैं और षडांगों के अनुरूप है। बौद्ध धर्म की कथायें चित्रात्मक ही है। बौद्ध भिक्षुओं के दल धर्म प्रचार हेतु दूर-दूर तक गये। लम्बे चित्रपट जिन पर भगवान बुद्ध की जीवनी अंकित होती थी, को जापान-चीन-तिब्बत-नैपाल तक ज्ञान प्रसार हेतु ले गये थे। कलाकार पुजारियों के दल भारत से चीन में पहुंचे और समस्त मध्य एशिया में भारतीय कला और धर्म का प्रचार हुआ। जापानी कला के भाव चित्रण और शैली को देखकर अजन्ता के भव्य चित्रों की याद हो आती है। मध्य एशिया की कला में भारत की कला के षडांगों का प्रचलन प्राप्त होता है। भारत की कला और आध्यात्मिक वातावरण दूसरे देशों के स्नातकों को आकर्षित करता था। यही कारण था ह्वेनसांग, फाहियान ज्ञान प्राप्त करने यहां आये। उस युग की कला मे अभिव्यंजना, शान्त रस निवृत्ति, सजीवता और कला के सम्पूर्ण व्याकरण का दिग्दर्शन होता है।

सातवीं शती में बौद्ध धर्म के ह्रास और पतन के कारण देश के कला और साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। लगभग एक हजार वर्ष तक विदेशी आक्रान्ताओं के कारण अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। कला का निर्माण गतिहीन हो गया।

हिन्दू धर्म पुनः सबल हुआ तथा जैन धर्म का प्रचुर प्रचार हुआ उसके फलस्वरूप दसवी शती से सोलहवी शती तक पोथियों में जैन शैली के चित्र पहले ताड़ पत्र पर तत्पश्चात् कागज पर गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश में बने। यह चित्र बहुत छोटे होते थे जिनमे लाल, पीले और नीले रंग की पृष्ठभूमि में सोने के वर्क या हिलकारी लगाई गई। तीखे नाक, दुहरी ठुड्डी, विस्फारित नेत्रों में लंबा चश्म आकृतियां बनाई जाती थीं। परन्तु इनमें अलङ्करण की परम्परा अजन्ता शैली से ही प्रभावित रही। जैन विषय होने के कारण इस शैली का नाम जैन पड़ा परन्तु पश्चिमी भारत में स्थान लेने के कारण पश्चिमी भारतीय शैली भी पड़ा। अजन्ता शैली का बिगड़ा हुआ रूप होने के कारण इसे अपभ्रंश नाम से भी बोला जाने लगा। इस शैली मे वैष्णव विषय भी चित्रित हुये। मुगलों के समय में कई प्रकार के कागजों, रंगों और चित्र बनाने की विधाओं का प्रचलन हुआ। वसली पर घुटाई कर रंगों को पुख्ता किया गया। पोथियों से हटकर स्वतंत्र चित्र बनने लगे। धर्म का स्थान राजसी वैभव और राजनीतिक घटनाओं ने ले लिया। रनिवास युद्ध, पशु-पक्षियों की लड़ाई, प्रेम विषयक चित्र बनने लगे। साहित्यिक चित्रों का भी साथ-साथ निर्माण हुआ।

मुगल शैली से पूर्व के चित्र नितान्त साहित्यिक विषयों पर अपभ्रंश शैली में चित्रित किये गये परन्तु अब वे कुशलता और श्रम से परिपूर्ण होने लगे। छाया प्रकाश दृष्टिक्रम, परदाज, सजावट ने चित्रों में स्थान लिया और वे फोटोग्राफी के अनुरूप दिखाई देने लगे जबकि फोटोग्राफी का प्रचलन नहीं हुआ था। कला मे लालित्य अभिव्यजना, कल्पना का लोप होने लगा। शाहजहां के राज्यकाल तक चित्रकला की आशातीत उन्नति हुई, इसके पश्चात् उसका पतन होने लगा।

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही साथ राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और दक्षिण के राज्यों में कला को प्रोत्साहन मिला। प्रत्येक स्थान के धार्मिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न शैलियों ने जन्म लिया। परम्परा का निरन्तर निर्वाह किया जाता रहा परन्तु अंग्रेजों के पदार्पण और विदेशी संस्कृति के आविर्भाव से परम्परा का धीरे-धीरे लोप होने लगा।

☐

संस्कृति की अठखेलियां—राजस्थानी चित्र शैलियां

कुछ विद्वानों का मत रहा है कि राजस्थानी चित्रकला का विकास मुगल चित्रशैली से हुआ है परन्तु यह मत केवल राजस्थान की उन उप-शैलियों के आधार पर अवलम्बित था जो मुगल शैली के प्रभाव से सुव्यवस्थित हो चुकी थीं और कला मर्मज्ञों की निगाह में आयी थीं। श्री अवनीन्द्र नाथ टैगोर, ई. बी. हैवल, श्री एन. सी. मेहता, श्री आनन्द कुमार स्वामी के समय तक राजपूत चित्रकला का नाम ही प्रकाश में आया था और वह भी केवल जयपुर शैली के आधार पर। उस समय तक राजस्थानी अथवा राजपूत चित्रकला का वर्गीकरण भी नहीं हुआ था और न राजस्थानी चित्रकला की नाना उपशैलियों पर अनुसंधान ही हो सका था।

पर अब हुए अनुसंधानों के आधार पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि राजपूत चित्रकला, कला का वह विकसित रूप थी, जो राजपूत रियासतों और राजस्थान की सीमाओं के बाहर भी जैसे कांगड़ा, मालवा आदि स्थानों में प्रचलित थी। परन्तु राजस्थानी चित्रकला, कला का वह रूप है जो राजस्थान प्रदेश की सीमाओं के अन्तर्गत है। नवीन अनुसंधानों द्वारा यह विदित हो चुका है कि राजस्थान के प्रायः सभी छोटे बड़े राज्यों में कला का विकास हुआ और उनमें भौगोलिक, सांस्कृतिक और सामाजिक भिन्नताओं के कारण कला के पृथक् स्वरूप स्थिर हुए जिन्हें आज शैलियों के नाम से बोला जाता है। मध्यप्रदेश में सिंहनपुर, रामगढ़, पंचमढ़ी, होशंगाबाद, भीमबेट ही शैलाश्रय चित्रों के लिये जाने जाते थे परन्तु अभी नवीन सर्वेक्षणों के आधार पर विदित हो चुका है कि राजस्थान के चित्रों की प्राचीनता की प्रामाणिकता के लिए प्रागैतिहासिक काल के भित्ति चित्र, राजस्थान के दक्षिण पूर्व में आलनिया, कन्यादह, काली का कुआं, अमरेश्वर हाड़ौती की पर्वत शृंखलाओं में उपलब्ध हो चुके हैं। राजस्थान पुरातत्व विभाग के सर्वेक्षण के माध्यम से अभी हाल ही में बैराठ के आस-पास भी शैलाश्रय चित्र उपलब्ध हो चुके हैं।

अब तक यह भी माना जाता था कि राजस्थानी चित्रकला का उद्गम जैन या गुजरात शैली से है, जिसका समय जैन हस्त लिखित ग्रन्थ प्रज्ञापारमिता, कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथादि के आधार पर तेरहवीं शताब्दी निश्चित किया गया था परन्तु अब राजस्थान में ऐसे ग्रंथ प्राप्त हो चुके हैं जिनका विषय जैन धर्म नहीं है तथा गुजरात की सीमाओं के बाहर जिनकी रचनाएं की गयी हैं जैसे बाल गोपाल स्तुति, गीत-गोविन्द, कामसूत्र आदि। जैसलमेर जैन भण्डार में 10वीं शती का दश वैकालिक सूत्र एवं ओघनिवृत वृत्ति अति प्राचीन है। सन् 1260 का श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णी तथा 1423 का सुपासनाह चरित्र ग्रंथ मेदपाट (मेवाड़) में लिखे गये, जिनमें से प्रथम बोस्टन संग्राहलय में है, दूसरा पाटन जैन भण्डार मे। इनसे यह प्रकट है कि राजस्थान की पश्चिमी सीमाएं गुजरात से मिली हुई थी और राजस्थान में भी गुजरात के समकालीन जैन साहित्य का सृजन हुआ था। इस सीमा का छोर मारवाड़ में जैसलमेर, नागौर, पाली, डीडवाना से प्रारम्भ होकर मेवाड़ तक चला आता था। मारवाड़ प्रदेश के वास्तु शिल्प में तो जैन अलंकरण का समावेश है ही, परन्तु हस्तलिखित ग्रन्थों की चित्र शैली मे भी उसका प्रभाव देखने को मिलता है। जैन पोथियों के विषय कल्पसूत्र, संग्रहणीसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, पार्श्वनाथ चरित्र, नेमिनाथ चरित्र, निशीथ चूर्णी तथा अग सूत्र आदि होते थे।

मेवाड़ की प्राचीन राजधानी चावंड से 1605 के रागिनी के चित्रों की तथा 1591 की चुनार रागमाला, बूंदी शैली की उपलब्धि होने के पश्चात् यह निश्चय हो चुका है कि ग्रंथ चित्रों के अतिरिक्त स्वतंत्र रचना भी मुगल कला के पूर्व राजस्थान में अपना स्थान रखती होगी तब ही उस युग में इतने सुन्दर चित्र बन पाये। स्व० मोतीचन्द्र बीकानेर के संग्रह में जैन शैली का वालोतरा से प्राप्त एक पटचित्र जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में है, का समय चौदहवीं शती निर्धारित किया गया है। श्री मोतीचन्द खजांची के संग्रह के ही कवि जयदेव के चित्र का काल भी खण्डालवाला द्वारा 16वी शताब्दी का अनुमान किया जा चुका है। मीठालाल शाह चित्रकार द्वारा पालम (दिल्ली) में रचित 1530 के भागवत के कुछ चित्र तथा इसरदा ठिकाना, जयपुर से भागवत के 16वीं शती के चित्र उपलब्ध हो चुके हैं जो नाना संग्रहों में जा चुके हैं। इन सबसे विदित होता है कि जैन कही जाने वाली शैली का निर्माण स्थल गुजरात तक ही सीमित नहीं था। यह शैली देशव्यापी थी जिसका स्वरूप हमें पूर्व में नेपाल, उड़ीसा चित्रकला के ताड़पत्र ग्रंथो में 17वीं शती तक उपलब्ध होता रहा है।

गुजरात और राजस्थान का संयुक्त नाम गुर्जरात्रा प्रदेश के नाम से पुकारा जाता था। गुजरात शैली और राजस्थान शैली के प्रारम्भिक चित्रों मे

पाया जाता है। श्री रायकृष्णदास ने उपरोक्त शैली का अपभ्रंश नाम देकर इसका बड़ा समर्थन किया है। लौर चन्दा तथा चौर पंचासिका के चित्रों को स्व० आर्चर ने मालवा (माण्डू) शैली माना था, जबकि विक्टोरिया एलबर्ट म्यूजियम लन्दन के 1550 ई. की भैरवी रागिनी की चित्र शैली को बेसिलग्रे ने दक्षिणी राजस्थानी करार दिया है, परन्तु उपरोक्त दोनों प्रमाणों और अन्तिम चित्र की शैलियों में कोई अन्तर नहीं है। इसी तरह विक्टोरिया म्यूजियम का रागिनी चित्र नियामत नामा की जौनपुर शैली से साम्य रखने के कारण जौनपुरी माना जाता था, परन्तु बाद में इसे राजस्थानी मान लिया गया है। चावण्ड के चित्रों और 1550 के भैरवी रागिनी की चित्र शैली में कम ही अन्तर पाया जाता है।

राजस्थानी चित्रकला के इतिहास और उसकी प्राचीनता का मत स्थिर कर लेने के पश्चात हमें उसके उस स्वरूप पर आ जाना चाहिये जो मुगलो के सम्पर्क में आकर ईरानी कला के सम्पर्क से अपना स्वरूप परिवर्तित करती है। हुमायूं के समय में अब्दुस्समद और मीर सैयद अली कलाकारों द्वारा ईरानी प्रभावी भारतीय कला मे पड़ा और राजस्थान में भी।

अकबर ने संस्कृत ग्रंथों को फारसी में अनुदित कराया और कलाकारो द्वारा चित्रित करवाया फलस्वरूप राजस्थानी कला में गोल चेहरा, छोटी गर्दन, छोटी आंख, अबावा, कमरबंद, पिशवाज, फब्बेदार ईरानी जूतो, चट्टान, गलीचा, चकदार जामा, अटपटी पगड़ी, रनिवास शिकार और दरबार के दृश्यों का समावेश होने लगा।

इधर जेसुइट मिशनरी के यहा आने से यूरोपीय कला का भी राजस्थानी कला में समावेश हुआ। छाया प्रकाश, दृष्टिक्रम, अंगविन्यास की यथार्थता का समावेश हुआ।

जहांगीर काल में उपकथित लक्षणों में और भी सिद्धि प्राप्त की गयी और चित्र में फोटोग्राफी जैसी यथार्थता का उपक्रम किया जाने लगा। आकृति चित्रों की बहुलता हो गयी। औरंगजेब के समय तक कला का ह्रास होने लगा। कलाकारों ने राजपूत राजाओं के यहाँ प्रश्रय पाया और वे कांगड़ा की पहाड़ी रियासतो तक पहुंच गये। इन स्थानों पर पहुंच कर उन्होंने साहित्य का अनुगामी होकर कला का प्रसार किया। वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसार, भक्ति आन्दोलन और साहित्यिक पुनरुत्थान के माध्यम से कला ने एक नवीन स्वरूप प्रस्तुत किया जो राजस्थान में भी व्याप्त हो गया। राग-रागिनियां, बारहमासे, नायिकाभेद, भागवत, गीत-गोविन्द, रसिक प्रिया, पंचतंत्र, रामायण, बिहारी, सूर, परमानन्द दास की कृतियों पर चित्र.

सभी कला के आश्रयदाताओं ने बनवाये, जो उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, जोधपुर, कोटा, बूंदी, जैसलमेर, नागौर आदि चित्रशैलियों में अपना रूपान्तर प्रदर्शित करते हैं।

शैलियों में ये भेद भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण आये। जैसे मारवाड़ का शौर्य आरक्त-विस्फारित नेत्रों में और गले के मांसल भागों में प्रदर्शित किया जाता है एवं शिकार और युद्ध के दृश्यों में उसका अधिकतम स्वरूप अंकित किया गया है।

जयपुर शैली में वैष्णव राजाओं के सम्पर्क के कारण राधाकृष्ण की लीलाओं का अंकन अधिक मिलता है। नीले रंग की प्रधानता शान्ति की सूचक है। नाटे कद, गोल अवयव, पिशवाज, झूमर, पैजामा, चित्रण की कुशलता मुगलों के ऐश्वर्य सम्पर्क का सूचक है, मिर्जा राजा जयसिंह, सवाई जयसिंह, प्रतापसिंह, ईश्वरीसिंह आदि इसके प्रोत्साहक हुए। नृत्य-गोपाल, तथा रास मंडल के चित्र (सिटी पैलेस म्यूजियम) संसार प्रसिद्ध है। सामोद ठिकाने से निकले बिहारी सतसई के म. प्रतापसिंह के समय के चित्र अद्वितीय कहे जा सकते हैं जो यत्र-तत्र बिखर चुके हैं। प्रारम्भिक चित्रों में वैराठ की मुगल छतरियों के भित्ति चित्र और रैनवाल भाउपुरा की छतरी के प्रारम्भिक 17वी शती के भित्ति चित्र एवं मानसिंह की छतरी (आमेर) के भित्ति चित्र उल्लेखनीय हैं।

गुर्जर प्रदेश की अपभ्रंश शैली के प्रभाव के कारण लम्बी नाक, आगे निकली हुई ठुड्डी, सपाट रंगों का प्रयोग, पीले लाल रंगों की प्रधानता मेवाड़ शैली की विशेषता है। इसमे कौशल की कमी उस समय की अशांति को प्रदर्शित करती है। प्रतीकों और मुद्राओं की बहुलता है। जगतसिंह, राजसिंह, भीमसिंह, संग्रामसिंह, अमरसिंह आदि राजाओं ने कला को प्रश्रय दिया। नासिरुद्दीन, साहबदीन, कृपाराम प्रसिद्ध कलाकार मेवाड़ शैली के प्रसिद्ध हुये हैं। गीत गोविन्द, रसिक प्रिया, पृथ्वीराज रासो, सूर सागर, बिहारी सतसई, सारंगधर, मुल्लादो प्यादा, शिकार, अन्तःपुर, सवारियों के अनेक चित्र बने जो प्रताप संग्रहालय, उदयपुर में विद्यमान हैं। मेवाड़ शैली के सबसे प्राचीन चित्र 1550 ई. के चौर पञ्चासिका के माने जाते हैं।

बून्दी शैली शास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुसरण करती रही, जिसमें काव्य का रस और कला का आनन्द दोनों उपलब्ध होते हैं। घने कुंज, लता, गुल्म, मयूर, कमल सरोवर आदि उपकरण इसी शैली में प्राप्त होते हैं। महावर रंग का प्राधान्य होता है। होठों मे स्याही रंग का प्रयोग और आंखों के नीचे सलवट इंगित किये जाते हैं। हाशिया चमकदार लाल और बसली पतली होती है। चुनार..

से 1591 के चित्र उपलब्ध हुये हैं तत्पश्चात् 1620 दीपक राग और भैरवी रागिनी के प्राप्त हुये हैं जो इलाहाबाद म्यूनिसिपल म्यूजियम और भारत कला भवन, बनारस मे विद्यमान हैं। बुद्धसिंह, उम्मेदसिंह, भीमसिंह, छत्रसाल कला के पोषक हुये। बारहमास, रागरागनी, रसिक प्रिया, आदि के शास्त्रीय चित्र बने।

किशनगढ़ शैली सांवतसिंह (नागरीदास) एवं रूपसिंह के समय मे प्रतिफलित हुई। लम्बी नाक, आगे निकली ठुड्डी, खिचे हुये प्रलम्ब नेत्र, लम्बे कद, ताम्बूल सेवा के दृश्य चित्रण सावतसिंह की प्रेयसी बनीठनी के रूपाधार हैं, जिसको वे राधा-स्वरूप भी मानते थे। यह कला 18वीं शती के प्रथम चरण में विकसित हुई। किशनगढ़ महाराजा के सग्रह में इस शैली के सर्वोत्कृष्ट चित्र हैं। निहालचन्द, धन्ना, छोटू वहा के कुशल कलाकार हुये हैं।

बीकानेर शैली सर्वथा मुगल शैली की अनुगामिनी रही। कभी-कभी तो मुगल और बीकानेर शैली मे अन्तर पहचानना भी कठिन होता है। कौशल का बहुत अधिक चमत्कार बीकानेर के चित्रो में पाया जाता है। सत्रहवीं शती से पूर्व के चित्र इस शैली मे उपलब्ध नहीं हुए हैं। इस शैली में चेहरे बहुत सुन्दर, स्थ पत्य मे वहा की स्थानगत विशेपता दिखायी देती है। वृक्षों को बहुत बारीकी से बनाया जाता है और पृष्ठभूमि में प्राकृतिक दृश्यों की प्रधानता होती है। इसे गजसिंह, रायसिंह, अनूपसिंह ने प्रोत्साहन दिया। भागवत के चित्र (खजाची के सग्रह मे) इस शैली मे उल्लेखनीय हैं। नागौर शैली जोधपुर शैली से साम्य रखती है। अलवर शैली शाह आलम के समय मे दिल्ली की शैली का अनुसरण करती रही। उसमें अपनी स्वतत्र विशेपताओं की मौलिकता कुछ नही है। अकडी-जकडी आकृतियों, श्रम की इति, नाटे कद, छाया की अधिकता का समावेश पाया जाता है। विनयसिंह एव शिवदान सिंह ने कलाकारो को प्रोत्साहन दिया।

कोटा के चित्रों में राजाओ के यथार्थ चित्रण अधिक दिखाये जाते हैं, जिसमे म० रामसिंह द्वितीय प्रमुख हैं। शिकार एवं जंगलो के दृश्य इस शैली की विशेपता है। वैष्णव पीठ होने क कारण कोटा में भी ब्रजनाथ जी मथुरानाथजी की झाकियो के नाना रूपो के चित्र बने है। रंग मे हरा और नीला प्रधान है। माधोसिंह, मुकुन्दसिंह, गुमानसिंह, भीमसिंह, किशोरसिंह, दुर्जन साल, रामसिंह द्वितीय के समय में शिकार के अनेक चित्र बने।

इस प्रकार राजस्थानी चित्रकला राजाओ के प्रश्रय मे अपना विकास करती हुई 19वीं शती में कम्पनी राज्यकाल में अवनति की ओर जाने लगी। यूरोपीय चित्रो की देखादेखी विदेशी विपयों की प्रतिलिपिया होने लगी। सादृश्य चित्र



बनने लगे। बारीक काम वाले छोटे चित्रों का रिवाज खत्म होने लगा। आधुनिक समय में अवनीन्द्रनाथ टैगोर के कला आन्दोलन के पश्चात् अजन्ता शैली से प्रभावित होने वाली कला को बंगला शैली के नाम से भी बोला जाने लगा।

शताब्दी के वर्तमान चरण में प्राचीन चित्रों की अनुकृतियों के रूप टैम्परा शैली का फिर से उदय हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् समसामयिक प्रयोगवादी कला का अभ्युदय हुआ है।

□

लघु चित्रों में त्रिवेणी–धर्म, साहित्य और समाज

राजस्थानी चित्रकला के प्राचीनतम उदाहरण 10-11 शती तक के उपलब्ध होते हैं। अतः यह स्पष्टतया कहा जाता है कि चित्रकला का विकास राजस्थान में सर्वदा धर्म के साथ होता रहा है। समय-समय पर कला के पोषक जिस धर्म को मानने वाले हुए उसी के अनुसार काव्य और साहित्य मे रचनायें हुई और उन्ही के अनुरूप कलाकारो ने अपनी कृतियां प्रस्तुत की हैं। जैनो का दृष्टिकोण लौकिक और अनीश्वरवादी था। ब्रह्माण्ड की उनकी व्याख्या में पदार्थ और शक्ति के द्वैत को अनादि और अनन्त तथा कर्म और पुनर्जन्म के चक्र के अस्तित्व की अन्तरहीन शृंखला का रूप समझा गया है। तीर्थंकरों की प्रशंसा में उन्होंने नेमीनाथ और पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र का गुनगान किया है जो सचित्र होता है। कालक कथा मे कालक का उसकी बहिन को राजा गर्दभिल्ल से शक राजा की सहायता से छुड़वाने का वृतान्त सचित्र मिलता है। कालक कथा और कल्पसूत्र के चित्र तीन प्रकार के हैं—पीली जमीन, लाल जमीन और नीली जमीन। पीली, लाल और नीली जमीन की पृष्ठभूमि के विरुद्ध उनमें सोने के वर्क की छपाई बहुतायत से मिलती है। उनमे तीखी लम्बी नाक, आगे निकली हुई दुहरी ठुड्ढी और लम्बी आंख जिसकी पुतली बाहर निकली होती है, लक्षण प्रमुख होते हैं। चेहरे सवा चश्म, डेढ़ चश्म होते हैं और गोल न होकर त्रिकोणाकार होते हैं। हंस मिथुन और मृगो की अलंकारिक सज्जा चित्र के हाशियों में अधिक पाई जाती है। सिर पर जूड़े, मुकुट और साड़ियों मे वृताकार स्ताकोर मिलती हैं जिनके पल्ले तिकोने निकले रहते हैं। पुरुषाकृतियो के सिर पर भी जूड़ा, डाढ़ी, मूंछ होते हैं तथा वेश-भूषा मे मोजे और जूते शक संस्कृति के द्योतक माने जाते हैं। पुस्तको की लिखावट लाल जमीन पर सुनहरी स्याही से पाई जाती है। चित्रों का आकार अधिक से अधिक 4 इंच से 9 इंच लम्बा और चार इंच चौड़ा होता है।

जैन तीर्थंकरों के अहिंसावाद ने जनता पर प्रचुर प्रभाव डाला। इसलिए जैन धर्म के सिद्धान्त शताब्दियों तक अरावली की चहारदीवारियों मे पोषित होते

रहे जिनका प्रभाव आज भी राजस्थान में प्रचुर मात्रा में मौजूद है। यति-मुनि राजस्थान के उत्तर पश्चिमी प्रदेश के सुरक्षित स्थानों में रहते थे और आबू पर्वत के जैन मन्दिर भी उनके आश्रय स्थान थे। राजस्थान और गुजरात की सीमायें आबू पर्वत से मिली हुई हैं इस कारण जैन धर्म के सिद्धान्तों का दोनों प्रदेशों में समानान्तर आदान-प्रदान होता रहा।

जैन विषयों में सोलह विधा देवियां, चौबीस तीर्थंकर, पन्च तीर्थियां, चतुर्दश स्वप्न, सप्त पदार्थ, लोकों और उपलोकों के चित्रों का सृजन हुआ है जो मारवाड से प्राप्त होते रहते हैं। इनमें पीले रंगों का प्राधान्य होता है। साहित्य और चित्र कला के सृजन की गतिविधियों को देखने से प्रतीत होता है कि उनका विकास धर्म के साथ-साथ होता रहा है।

15वीं से 17वी शती तक धर्म और साहित्य दोनों का निरूपण चित्रकला द्वारा एक नवीन रूप में होता दिखलाई पड़ता है। इससे पूर्व हिन्दू जनता में गौरव, उत्साह और प्रतिष्ठा के नाम पर कुछ भी बाकी नहीं रह गया था। विजातियों द्वारा देवमूर्तिया तोड़ी जाती थीं, धार्मिक ग्रन्थों को जलाया जाता था। हिन्दू धर्म को इन कुत्सित कार्यों द्वारा बड़ा आघात पहुंचा था। ऐसे समय में हिन्दू जनसमुदाय के पास भगवान की शक्ति की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं था। वज्रयानी सिद्ध, कापालिक और नाथ पंथी योगियों का प्रभाव कम नहीं हुआ था जो 18वीं शती से ही प्रारम्भ हो गया था। राजस्थान में भी नाथों का खूब बोलबाला रहा। सामान्य जनता की धर्म भावना दबती चली जा रही थी। योगी लोग जन्तर-मन्तर और रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिए बाह्य जगत की बातें छोड़कर भीतर के कोठों की बातें बताते थे, परन्तु ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता और भाष्य की चर्चा करने वाली विद्वत्मंडली अलग से चल रही थी जिससे भक्ति मार्ग के सिद्धान्तों का नूतन विकास हुआ। निर्गुण भक्ति का स्रोत दक्षिण से उत्तर की ओर आया था, परन्तु शंकराचार्य के मायावाद विवर्तवाद को सगुण भक्तिवाणी ने अधिक नही पनपने दिया। रामानुजाचार्य और रामानन्द स्वामी ने राम की उपासना पर जोर दिया और एक सम्प्रदाय खड़ा कर दिया। गुजरात मे स्वामी मध्वाचार्य ने द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। पूर्वी भाग में जयदेव के कृष्ण प्रेम संगीत की गूंज उठ चली जिसके सुर में मिथिला कोकिल विद्यापति ने अपना सुर मिलाया। वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के कृष्ण को लेकर जनता को रस मग्न किया। सम्पूर्ण राजस्थान इस रस से आप्लावित हो गया। सूरदास, मीरां और अष्टछाप के कवियों ने स्थान-स्थान पर कृष्ण की दर्शन होने की आस्था पैदा कर दी। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्परायें चली जिनसे

लघु चित्रों में त्रिवेणी—धर्म, साहित्य और समाज

राजस्थानी चित्रकला के प्राचीनतम उदाहरण 10-11 शती तक के उपलब्ध होते हैं। अतः यह स्पष्टतया कहा जाता है कि चित्रकला का विकास राजस्थान में सर्वदा धर्म के साथ होता रहा है। समय-समय पर कला के पोषक जिस धर्म को मानने वाले हुए उसी के अनुसार काव्य और साहित्य में रचनायें हुई और उन्हीं के अनुरूप कलाकारों ने अपनी कृतियां प्रस्तुत की हैं। जैनों का दृष्टिकोण लौकिक और अनीश्वरवादी था। ब्रह्माण्ड की उनकी व्याख्या में पदार्थ और शक्ति के द्वैत को अनादि और अनन्त तथा कर्म और पुनर्जन्म के चक्र के अस्तित्व को अन्तरहीन शृंखला का रूप समझा गया है। तीर्थंकरों की प्रशंसा में उन्होंने नेमीनाथ और पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र का गुणगान किया है जो सचित्र होता है। कालक कथा में कालक का उसकी बहिन को राजा गर्दभिल्ल से शक राजा की सहायता से छुड़वाने का वृतान्त सचित्र मिलता है। कालक कथा और कल्पसूत्र के चित्र तीन प्रकार के हैं—पीली जमीन, लाल जमीन और नीली जमीन। पीली, लाल और नीली जमीन की पृष्ठभूमि के विरुद्ध उनमें सोने के वर्क की छपाई बहुतायत से मिलती है। उनमें तीखी लम्बी नाक, आगे निकली हुई दुहरी ठुड्डी और लम्बी आंख जिसकी पुतली बाहर निकली होती है, लक्षण प्रमुख होते हैं। चेहरे सवा चश्म, डेढ़ चश्म होते हैं और गोल न होकर त्रिकोणाकार होते हैं। हंस मिथुन और मृगों को अलंकारिक सज्जा चित्र के हाशियों में अधिक पाई जाती है। सिर पर जूड़े, मुकुट और साड़ियों में वृत्ताकार हाशिये मिलती हैं जिनके पल्ले तिकोने निकले रहते हैं। पुरुषाकृतियों के सिर पर भी जूड़ा, दाढ़ी, मूंछ होते हैं तथा वेश-भूषा में मौजे और जूते शक संस्कृति के द्योतक माने जाते हैं। पुस्तकों की लिखावट लाल जमीन पर सुनहरी स्याही से पाई जाती है। चित्रों का आकार अधिक से अधिक 4 इंच से 9 इंच लम्बा और चार इंच चौड़ा होता है।

जैन तीर्थंकरों के अहिंसावाद ने जनता पर प्रचुर प्रभाव डाला। इसलिए जैन धर्म के सिद्धान्त शताब्दियों तक अरावली की चहारदीवारियों में पोषित होते

रहे जिनका प्रभाव आज भी राजस्थान में प्रचुर मात्रा में मौजूद है। यति-मुनि राजस्थान के उत्तर पश्चिमी प्रदेश के सुरक्षित स्थानों में रहते थे और आबू पर्वत के जैन मन्दिर भी उनके आश्रय स्थान थे। राजस्थान और गुजरात की सीमायें आबू पर्वत से मिली हुई हैं इस कारण जैन धर्म के सिद्धान्तों का दोनों प्रदेशों में समानान्तर आदान-प्रदान होता रहा।

जैन विषयों में सोलह विद्या देवियां, चौबीस तीर्थंकर, पन्च तीर्थियां, चतुर्दश स्वप्न, सप्त पदार्थ, लोकों और उपलोकों के चित्रों का सृजन हुआ है जो मारवाड़ से प्राप्त होते रहते हैं। इनमें पीले रंगों का प्राधान्य होता है। साहित्य और चित्र कला के सृजन की गतिविधियों को देखने से प्रतीत होता है कि उनका विकास धर्म के साथ-साथ होता रहा है।

15वीं से 17वीं शती तक धर्म और साहित्य दोनों का निरूपण चित्रकला द्वारा एक नवीन रूप में होता दिखलाई पड़ता है। इससे पूर्व हिन्दू जनता मे गौरव, उत्साह और प्रतिष्ठा के नाम पर कुछ भी बाकी नहीं रह गया था। विजातियों द्वारा देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं, धार्मिक ग्रन्थों को जलाया जाता था। हिन्दू धर्म को इन कुत्सित कार्यों द्वारा बड़ा आघात पहुंचा था। ऐसे समय में हिन्दू जनसमुदाय के पास भगवान की शक्ति की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं था। वज्रयानी सिद्ध, कापालिक और नाथ पंथी योगियों का प्रभाव कम नहीं हुआ था जो 18वीं शती से ही प्रारम्भ हो गया था। राजस्थान में भी नाथों का खूब बोलबाला रहा। सामान्य जनता की धर्म भावना दबती चली जा रही थी। योगी लोग जन्तर-मन्तर और रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिए बाह्य जगत की बातें छोड़कर भीतर के कोठों की बातें बताते थे, परन्तु ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता और भाष्य की चर्चा करने वाली विद्वत्मंडली अलग से चल रही थी जिससे भक्ति मार्ग के सिद्धान्तों का नूतन विकास हुआ। निर्गुण भक्ति का स्रोत दक्षिण से उत्तर की ओर आया था, परन्तु *शंकराचार्य के मायावाद विवर्तवाद* को सगुण भक्तिवाणी ने अधिक नहीं पनपने दिया। रामानुजाचार्य और रामानन्द स्वामी ने राम की उपासना पर जोर दिया और एक सम्प्रदाय खड़ा कर दिया। गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य ने द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। पूर्वी भाग में जयदेव के कृष्ण प्रेम संगीत की गूंज उठ चली जिसके सुर में मिथिला कोकिल विद्यापति ने अपना सुर मिलाया। वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के कृष्ण को लेकर जनता को रस मग्न किया। सम्पूर्ण राजस्थान इस रस से आप्लावित हो गया। सूरदास, मीरां और अष्टछाप के कवियों ने स्थान-स्थान पर कृष्ण की दर्शन होने की आस्था पैदा कर दी। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्परायें चली जिनसे

हिन्दी साहित्य को प्रौढ़ता पहुंचाने वाले रत्नों का विकास हुआ। सगुण और निर्गुण नाम से भक्ति काव्य की धारायें समानान्तर चलती रहीं। दूसरी एक शाखा प्रेममार्गी सूफी कवियों की चली जिनकी प्रेम गाथायें साहित्य के रूप में अवतरित हुईं। इन कवियो ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेम मार्ग का महत्त्व दिखलाया। मधुमालती, सावलिगा सदावृत माधवानल, कामकन्दला जैसी प्रेम कथाओं का चित्रण प्रचुर मात्रा में हुआ। वज्रयान और नाथ सम्प्रदाय के कारण तान्त्रिक कला को बल मिला। रीति काल की काव्य प्रणाली में उपरोक्त सब धाराओं के अनन्तर नायिका भेद, नख-शिख वर्णन, ऋतु वर्णन, रसिक प्रिया, कवि प्रिया, राग-रागनिया, दान लीला, मान लीला, मृगया, होली, झूला आदि काव्यांगों का निरूपण किया गया जिसकी प्रथा समस्त देश में फैल गई और राजस्थान ने इसके सृजन और चित्रण दोनो मे बहुत अधिक भाग लिया क्योंकि राजा-रईसों को प्रसन्न करने के लिए कवि और चित्रकारों ने नाना प्रकार के प्रयास किये।

राजस्थान में साहित्य, धर्म, कला और सामाजिक परिस्थितियों पर जो भी प्रभाव पड़ा उसमें तथाकथित युग की तख्ते सल्तनत की गतिविधियों ने बहुत बड़ा काम किया। जो कुछ वहां होता था उसकी छाप वहां सेवारत राजा-रईसों द्वारा रियासतों में चली आती थी।

नलदमन, रज्मनामा, राग-रागनियां, योग वाशिष्ठ, अनुवार सुहेली, अयारदानिश, कालिया दमन, रसिक प्रिया मुगल युग की वे कृतियां हैं जिनमे उस युग के उत्कृष्ट चित्र भी हैं। इस चित्रशैली का प्रभाव राजस्थान में भी आये बिना नही रहा। रज्मनामा महाभारत का फारसी अनुवाद जो जयपुर महाराज के संग्रहालय में मुगल काल के उस युग के चित्रकारो की कृतियो का ज्वलंत उदाहरण है। जयपुर के कलाकारों ने उन चित्रों की प्रतिलिपिया कीं और उस शैली का उन्हे अभ्यास हो गया। राजस्थान में पचतत्र के चित्रों का निर्माण अनुवार सुहेली के पद चिन्हो पर हुआ। चित्रों में छोटे अवयवों और गोल चेहरे की परम्परा ईरानी प्रभाव से चली। रंगों मे मीनाकारी जैसी पद्धति भी ईरान से आई। लैला मजनू, शीरी फरहाद जैसी प्रेम कथाओं के चित्रण का बाहुल्य भी ईरानी परम्परा के कारण हुआ। ईसाई चित्रों का प्रभाव राजस्थान मे भी पड़ा और यहां के कलाकारों ने उनके चित्र अपनी शैली मे बनाये जो जनता मे फैल गये। ईसाई चित्रों द्वारा राजस्थानी चित्रों में यूरोपीय स्थापत्य वेश-भूषा और छाया प्रकाश का प्रभाव पड़ा।

उत्तर मुगल युग में चित्रकला साक्षणिक और प्रतीकात्मक प्रभाव को छोड़कर सादृश्य और यथार्थ पर आ गयी। व्यक्ति चित्र, युद्ध के चित्र, शिकार के चित्र, दरबार के दृश्य, अन्तःपुर के दृश्य, साधारण जीवन के दृश्य चित्रों मे बनाये जाने

लगे जिनसे उस युग की सामाजिक परिस्थितियों पर प्रचुर प्रभाव पड़ा। उसी का अनुकरण राजस्थान मे भी हुआ। राजाओं के जीवन की विभिन्न घटनाओं के चित्र बने जो पहले राजस्थान में नहीं बनते थे। चित्रकला तख्ते सल्तनत से उठकर राजाओं की धार्मिक और साहित्यिक रुचियों और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप बनती-बिगड़ती रही। नाना शैलियों और उपशैलियों का जन्म हो गया जिनके नाम राजस्थान की रियासतों के नाम पर ही आधुनिक युग में रखे गये।

वैष्णव सम्प्रदाय की प्रमुख पीठ नाथद्वारा मे सहस्त्रों चित्र श्रीनाथ जी की झांकियो के बने जो जनता को प्रचुर मात्रा में बांटे जाते थे। मेवाड़ के चित्रों मे ऊपर पद, दोहे या छन्द जिन पर चित्र बना होता है, की रचना होती थी। जयपुर के राजा वैष्ण सम्प्रदाय के अनुयायी थे और उनमें से कुछ कवि भी थे, इसलिए जयपुर के चित्रो में राधा-कृष्ण की युगल छवि का अंकन प्राय: अधिक मिलता था।

जोधपुर के राजा मानसिंह नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे इस कारण वहां नाथ संतों के चित्र बहुत बने। इसके अतिरिक्त लोक कथाओं का चित्रण मारवाड़ अधिक हुआ। ढोला मारू, सदावृत सावलिंगा, बीजा सोरठ, शीरी-फरहाद के विषय मारवाड़ के मुख्य हैं। किशनगढ़ के नागरीदास स्वयं उच्चकोटि के कवि थे इसलिए किशनगढ़ शैली में राधा कृष्ण के विषय अधिक मिलते है। वैष्णव साहित्य के प्रभाव से ही किशनगढ व कोटा के चित्रों मे प्रलम्बित नेत्रो का प्रयोग किया। बीकानेर के चित्रों में अभी तक प्राप्त उपब्धियों के अनुसार भागवत और रसिक प्रिय के चित्र अधिक सुन्दर मिल पाये हैं। मुसलमान फकीरों और शेखो के चित्र भी बीकानेर की विशेषता है। बीकानेर शैली मुगल शैली के लक्षणो का समावेश अधिक हुआ क्योंकि वहां के राजा बादशाहों से सम्पर्क रखते थे।

बूंदी के चित्र भी मेवाड़ के चित्रों के समान साहित्यक परम्पराओ पर आधारित होते थे। विष्णु धर्मोतर के चित्र लक्षणों का बूंदी के चित्रों में अच्छा निर्वाह हुआ। बूंदी के चित्रो में साहित्यिक अनुरूप होने के कारण आकृतियों में सरसता और कमनीयता अधिक पाई जाती है। चित्रों में रागात्मक तत्व की अधिकता होने के कारण लाल रंग का प्राधान्य पाया जाता है। बारह मास, राग रागरागनिया नायिका भेद के चित्रण बहुलता से मिलते हैं। बूंदी के चित्रकार विरहिणी नायिकाओं के चित्र बनाने में बडे सिद्ध होते थे। कोटा के राजा भी वैष्णव सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। कोटा नगर मथुरानाथजी का प्रधान पीठ होने के नाते वहां गुसाइयो के और मथुरानाथजी के नाना भोग और झांकियों के चित्र बने। कोटा के चित्रों में अंगड़ाई लेती पुत्तलिका का चित्र बहुत बना या फिर वैष्णव मन्दिर की सेवा संबधी गतिविधियों का चित्रण बहुत हुआ।

जिन युगों में चित्रकला के धार्मिक और साहित्यिक पक्ष का वर्णन किया गया है, उस समय अनेक सम्प्रदाय राजस्थान में पनप रहे थे, जो विभिन्न प्रकार की रीतियों और परम्पराओं में होकर गुजर रहे थे। जातिवाद का उस युग में जोर था। क्षत्री व अन्य जाति लोगों की रक्षा करते थे। राजाओं में एक दूसरे की शक्ति में प्रतिद्वन्दिता चलती रहती थी। जीवन प्रति क्षण युद्ध और मौत की आशंकाओं में से गुजरता रहता था इसलिए क्षत्री के अतिरिक्त भी प्राणी मात्र का कर्तव्य था कि वह जीवन रक्षा हेतु बल और शक्ति को महत्त्व दे। शस्त्र हर घड़ी हर व्यक्ति को अपने पास रखने पड़ते थे। शस्त्रों के उपयोग के लिए शिकार को मनोरंजन का साधन समझा जाता था। राजस्थानी चित्रों में शिकारो के, युद्धों के, जुलूसो के दृश्य बहुत मिलते हैं। हिंस्र पशुओं से लड़ाई करना भी वीरता का द्योतक था इसलिए इस प्रकार के चित्र भी प्राप्त होते हैं।

युद्ध और शिकार के लिए वेश-भूषा भी चुस्त काम में लाई जाती थी। जामा, पेजामा, कमरबन्ध और पगड़ी मुख्यतः काम मे लिये जाते थे जो खाकी रग के होते थे। ढाल, तलवार, कटार, बन्दूक हर घड़ी शरीर पर लदे रहते थे। यहां तक कि रनिवास में आमोद-प्रमोद के समय भी शस्त्रों से सुसज्जित रहना पड़ता था।

धार्मिक आंदोलन और भक्ति के प्रचार के कारण शिक्षा का भी स्थान ऊँचा था, परन्तु जन साधारण में नही। सम्प्रदायवाद और जातिवाद के कारण विशेष जातियों में विशेष प्रकार के उद्योग-धन्धे किये जाते थे। चित्रों के द्वारा ऐसे नाना प्रकार के व्यवसाय और उद्यमों के दृश्य देखने को मिलते हैं। प्रत्येक जागीरदार और रईस के घर मे पुस्तकालय या सरस्वती भवन होता था जिसमें चित्रों के बस्ते रहते थे जिनका वे लोग कभी-कभी अवकाश में मनोरंजन हेतु अवलोकन किया करते थे।

समाज में व्यक्ति में समानता नहीं थी। राजा को भगवान का रूप माना जाता था इसलिए राजा-रईस के पीछे कांति चक्र हमेशा दिखलाया जाता था। राजा को आकार में भी साधारणजन की समानता में बड़ा दिखलाया जाता था।

दस्यु प्रथा जोरों पर थी। यहां तक कि राजा के घोड़े पर सफर करते समय भी सेवक हुक्का लेकर दौड़ते रहते थे। दासियां भी अन्तःपुर में प्रसाधन से लेकर सब प्रकार का छोटा-बड़ा कार्य करती थी जिनके दृश्य चित्रो में देखने को उपलब्ध होते है। चित्रो में रईसों के महल और आवास बड़े आलीशान दिखलाये जाते हैं। वेश-भूषा बड़े ऊँचे दर्जे की थी जिसमें बारीक से

बारीक कपड़े से लेकर ज़रीन कपड़े तक और नाना प्रकार के आभूषण और जवाहरात भी चित्रों में स्त्रियोंऔर पुरुषों के शरीर पर देखने को मिलते हैं।

बहु विवाह का प्रचलन था। चित्रों में एक नायक और रनिवास में कई नायिकाएं आमोद-प्रमोद करती दिखाई देती हैं, जैसे मछली पकड़ना, जलाशय या हौज में तैरना, मद्यपान करना इत्यादि।

स्त्रियां अधिकतर अपना समय युद्ध में गये पतियों के इन्तजार में काटती थी। प्रोषितपतिका नायिकाओं के अनेको चित्र इस बात के साक्षी हैं। बूंदी, कोटा, शैली के चित्रों में स्त्रियों को पुरुष वेश-भूषा में शिकार करते दिखाया गया है, इससे प्रमाणित होता है कि राजस्थान की स्त्रियां वीरता में कम नहीं थीं।

संगीत-नृत्य का समाज में बड़ा आदर था। एक ओर युद्धों के दृश्य, दूसरी ओर राजाओं का संगीत, नृत्य और आमोद-प्रमोद में व्यस्त होना चित्रों में दिखलाई देता है। लगभग प्रत्येक चित्र में राजा-रानी और उनके सामने नृत्य-संगीत की मजलिस के दृश्य देखने को मिलते हैं।

हाथी, घोड़े और पालकी सवारी के काम आते थे। हाथी-घोड़ों के हजारों चित्र प्राप्त होते रहते हैं जिनके विशेष नाम भी होते थे। उन्हें बड़ा सजाकर भी रखा जाता था। शालिहोत्री पुस्तकों में हाथी, घोड़ों के गुण दोषों का सचित्र वर्णन उपलब्ध होता है।

चिड़ियों और जानवरों की लड़ाइयां, रईसों के आमोद-प्रमोद का एक अंग था। बाज, चीता और कुत्ता शिकार के काम लिया जाता था। इसलिए राजाओं को बाज लिए कई चित्रों से दिखलाया जाता है। शक्ति और बल के द्वारा स्त्रियों को भगा ले जाना बहुत बड़ा साहसिक काम समझा जाता था। हाथी घोड़े ऊँट पर नायिका को भगा कर ले जाते हुए नायक के चित्र का विषय चित्रकारों को बड़ा प्रिय था।

स्त्रियों की स्वन्त्रता नहीं थी परन्तु रनिवास में ही उनके लिये सब प्रकार के आमोद-प्रमोद उपलब्ध कर दिये जाते थे। जैसे चौपड़, शतरंग का खेल, चिड़ियो जानवरो का पालना, संगीत, झूला, नौका विहार, पतंगबाजी, आतिशबाजी इत्यादि।

सामान्य जीवन की घटनाओं का चित्रण राजस्थानी चित्रो में बहुत कम मिलता है, जो भी विषय प्राचीन चित्रों में प्राप्त होते हैं वे अधिकतर साहित्यिक हैं। इसका कारण है चित्रकार, राजदरबारों और राजा-रईसों के यहां काम करते थे

श्रौर जैसा वे अपने सम्मुख देखते थे या जो उन्हें आदेश मिलता था उसी के अनुरूप चित्रण करते थे। चित्रकारों ने स्वान्तः सुखाय रचनायें की पर वे भी परम्पराओं से बाध्य होकर। राजस्थानी चित्रों में परम्परा का बाहुल्य है। सोलहवीं शती से लेकर अठारहवीं शती तक लगभग एक ही प्रकार के दृश्य व विषय चित्रों में प्राप्त होते हैं। पोथियां चित्रित करने के युग में तो चित्रकार यति-मुनि श्रौर साधु होते थे जो धर्म भावनाओं से प्रेरित होकर चित्र रचना करते थे। पुनरुत्थान युग में भी धार्मिक चित्र बहुलता से बनाये जाते थे। परन्तु बाद के युग में चित्र रचना का कार्य खाती, कुम्हार, सुनार जाति के लोग अधिक करते थे। मुगल काल के चित्रकारों की नामावली से प्रतीत होता है कि चित्रकार निम्न जाति के हुश्रा करते थे। यही बात राजस्थान के लिए भी लागू होती है। राजस्थान मे मुसलमान चित्रकार बहुत सिद्धहस्त हुये हैं। चित्रकार रईसों की सालगिरह, विवाह, उत्सव आदि अवसरो पर व्यक्तिचित्र या अन्य प्रकार के चित्र बनाया करते थे श्रौर उन्हे जागीरें, इनाम-इकराम प्रदान की जाती थी। चित्रकार का दर्जा समाज में बहुत ऊँचा नही था। चित्रकार दहेज में भी एक ठिकाने से दूसरे टिकानों पर स्थानान्तरित किये जाते थे। इसी कारण एक शैली का अन्य शैली में भी प्रभाव दृष्टिगत होने लगता है।

युद्ध श्रौर शिकारों में राजा-रईसो के साथ चित्रकार जाया करते थे श्रौर तत्काल वहीं स्थल पर बैठकर चित्र बनाते थे चाहे अवसर कितना ही खतरनाक हो। व्यक्ति चित्र श्रौर सादृश्य चित्र बनाये जाते थे, परन्तु प्रतीकात्मकता श्रौर कल्पना का पुट उनमें भी होता था। राजा लोग चित्रकारों का आदर करते थे। चित्रकार अपना नाम चित्रों पर नहीं लिखते थे। यह प्रथा मुसलमान काल से चली।

उपरोक्त विवरण से सामाजिक परिस्थितियों श्रौर कलाकार की उस युग की स्थिति का संक्षिप्त परिचय मिल जाता है।

□

संस्कृति संजीवन–भित्तियों पर चित्रित सामाजिक जीवन

राजस्थान मे अभी तक भित्ति चित्रों का सर्वेक्षण पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है इसलिये यह कहना तो कठिन है कि यहां की भित्ति चित्र परम्परा कहां-कहां उपलब्ध होती है प्राचीन काल में अवश्य मध्यभारत राजस्थान का ही अंग था तब आडावला और परियात्र मण्डल का संयुक्त नाम की राजस्थान था। वहां के गुफा भित्ति चित्रो को राजस्थान का ही माना जाता था। परन्तु जब से इन प्रदेशों की सीमायें प्रथक् हुई हैं राजस्थान में भी प्राचीन भित्ति चित्रों का सर्वेक्षण हो चुका है और हाड़ोती क्षेत्र में शैलाश्रय चित्र उपलब्ध हो चुके हैं, आगे इस ओर प्रयास जारी है।

राजस्थान की भित्ति चित्र परम्परा बैराठ के मुगल उद्यान के 17वी शती को चित्रो से प्रारम्भ होती है और उन्नीसवी शती तक इसका क्रम चलता है। यह चित्र आराइश शैली के होते हैं जिसमे गीली भित्ति पर देशी रंग लगाकर उन्हें ठोका जाता है ताकि चूने के भीतर दाखिल हो जायें। तत्पश्चात् चित्र पर घुटाई और पालिश की जाती है। दूसरी एक पद्धति मे आराइश के समान भूमि तैयार कर उस पर ऊपर से ही रंग लगाये जाते हैं। इनमे स्थायित्व कम होता है और परिश्रम भी उतना नहीं होता जितना आराइश शैली के चित्रों मे होता है।

भित्ति चित्रो मे हमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की झांकी देखने को मिलती है। भित्ति चित्र पूर्व काल मे तो गुफाओं मे बनाये जाते थे जब मनुष्य आदिम अवस्था मे रहता था। चित्र बहुधा पशुओ के या आखेट सम्बन्धी होते थे। परन्तु 17वी शती से जो चित्र बने वे राजाओ, सामन्तों और धनाढ्यों के प्रश्रय में उनके जीवन की विलासिता से सम्बन्धित उनकी इच्छानुसार उनके आवास स्थानों मे बने। इसलिये ऐसे चित्रो मे उस युग की सामन्तवादी जीवन की छाप भली प्रकार से देखने को मिल जाती है।

बैराठ

यह चित्र अधिकतर शास्त्रीय होते हैं जैसे राग रागिनी, बारह मास, अवतार इत्यादि या फिर सामाजिक जीवन से सम्बन्धित। बैराठ के चित्रों में पुरुष वेशभूषा में मुगलिया जामा, पैजामा, अटपटी पगड़ी, मोचडी, कमरबन्ध देखने को मिलते हैं और स्त्रियों मे तिलक पेजमा, पुर्तगाली टोप इत्यादि। चित्रों के मुख्य विषय शिकार या सवारी है जिनसे विदित होता है कि उस युग मे आखेट जीवन का मुख्य अंग समझी जाती थी। हाथियों पर से घोड़ों की सांठमारी के दृश्य भी देखने को मिलते हैं जिससे पता चलता है कि सांठमारी मनोरंजन का एक साधन था। लैला मजनू प्रेम कथा का अंकन भी देखने को मिलता है। पंखदार स्त्रियों के अंकन से विदित होता है कि ईसाई प्रभाव यहां के जीवन पर पड़ चुका था।

महाराजा मानसिंह प्रथम की छतरी

आमेर से कुछ ही दूरी पर राष्ट्रीय मार्ग पर स्थित राजाओं की छतरियों में मानसिंह की छतरी के चित्र भी बैराठ के चित्रों के समकालीन समझे जाते हैं। इन चित्रों की शैली बैराठ के चित्रों से बहुत साम्य रखती है। यहां भी शिकार के दृश्य देखने को उपलब्ध होते हैं या वेशभूपा मे चकदार जामा, पैजामा पगड़ी कमरबन्ध मुगल लक्षण प्रतिलक्षित होते हैं। महमिल में ऊंट पर बैठी शाहजादी के ऊंट को एक स्त्री ले जा रही है जिससे विदित होता है महमिल में बैठ कर जाने की प्रथा था।

मकदूम शाह की छतरी

आमेर मे अकबरी मस्जिद के सामने पूर्व की ओर हाडीपुरा में मकदूम शाह की छतरी में भी उपरोक्त युग के चित्र गुम्वद में देखने को मिलते हैं जिनमें पंखदार परियां बनी है। मुस्लिम साहित्य में दरवेशो के लिये परियां तब्बरुक लाती थीं ऐसे ही दृश्य यहा अंकित हैं पर सब मिट चुके हैं।

पुण्डरीक जी की हवेली

रत्नाकर पुण्डरीक जी जयपुर के म. सवाई जयसिंह के राज्य काल में बहुत प्रतिष्ठित तन्त्रशास्त्र वेत्ता थे जिन्होने अश्वमेघ यज्ञ का आचार्यत्व किया था उन्हीं की ब्रह्मपुरी स्थित हवेली में जयपुर शैली के 18वी शती के उत्कृष्ट भित्ति चित्र देखने को मिलते हैं। यह हवेली केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के अधीनस्थ संरक्षित है। यहा के चित्रों मे विषय ऐसे हैं जिनसे जयपुर के प्राचीन राजसी वैभव का पता चलता है। जयपुर के शासक मुगलों के मित्र रहे इसलिये जयपुर के राजाओ की वंशावली के साथ मुगलिया खानदान की वंशावली भी साथ-साथ चित्रित है। एक



एक चित्र में राजा रानी और दासियां सहित, रानिवास में मद्यपान कर रहा है। सबके कपड़े अस्त-व्यस्त हैं और बेहोशी की हालत में हैं। अन्य एक चित्र मे राजा हाथ-गाड़ी में बैठा स्त्रियों द्वारा खींचा जा रहा है। रनिवास की स्त्रियां राजस्थानी वेशभूषा में साथ में हैं। इसी प्रकार बाज बहादुर रूपमती का चित्र बतलाता है कि रानियां भी शिकार करती थी। इनके अतिरिक्त छोटे गोल चित्र ऐसे भी हैं जिनमें स्त्रियां वाद्य बजा रही हैं, नृत्य कर रही हैं, कन्दुक, क्रीड़ा कर रही हैं, शराब पी रही हैं। राग-रागनियां बारह मास के चित्र भी यहाँ दिखाई देते हैं।

नाना जी की हवेली

गोपाल जी के रास्ते के सिरे पर नाना जी की हवेली में भी पुण्डरीक जी की हवेली के समान चित्र देखने को मिलते हैं। दोनों ही हवेलियां सम्भवतः एक ही समय में बनी होंगी। विषय, अलंकारिता शैली सब कुछ एक सा दिखाई देता है। यहां हाथियों की लड़ाई, लैला मजनू, सांठमारी, बारह मास, राग-रागनियों के चित्र अंकित हैं। *बारह मास और राग-रागनियों के चित्र बनवाने की एक सामान्य प्रथा* थी। सामन्त या धनाढ्य लोग ऐसे चित्रों को देखकर अपना मनोरंजन करते थे। मुगल वेशभूषा में स्त्रियों के नाचने, गाने, बजाने, पतग उड़ाने, गेंद खेलने, कांटा निकालने के अनेक दृश्य यहां चित्रित है।

दुसाधों की हवेली

दुसाध जयपुर राज्य की सेवा में दीवान थे और उनके मकान में 18वीं शती के उत्कृष्ट चित्र उपलब्ध होते हैं। राधा-कृष्ण और गंगा के बड़े चित्र यहा एक कक्ष मे बने हैं जो सम्भवतः जयपुर की प्रसिद्ध नृत्य गोपाल (सिटी पैलेस म्यूजियम) के चित्र के समकालीन ही बने होंगे। जयपुर के राजा और उनकी प्रजा परम वैष्णव थे इसी कारण यहां धार्मिक चित्रों का निर्माण अधिक हुआ। इस हवेली में अन्य विषयक चित्र भी हैं जिनसे नित्य प्रति के जीवनचर्या पर किंचित प्रकाश पड़ता है।

प्रताप नारायण पुरोहित की हवेली

प्रताप नारायण जी जयपुर राज्य के राज कवि थे और अपने समय के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे। उनकी गणगौरी बाजार स्थित हवेली में भित्ति चित्र उपलब्ध होते हैं जिनमे कुछ गणिकाओं के हैं। विदित ही है जैसी राजा की रुचि होती है उसके अनुरूप उसकी जनता की। म रामसिंह के युग में जयपुर के गुणीजन खाने में अच्छी गाने वाली गणिकायें नियुक्त थीं। उस युग में सिनेमा की अभि-नेत्रियों के समान गणिकाओं के भी चित्र बनाये जाते थे। इसी ध्येय से इस हवेली

के बड़े कक्ष में गणिकाओं के चित्र देखे जा सकते हैं। उस युग में गणिकाओं का समाज में आदर और प्रतिष्ठा थी।

गलता

मच्छी दरवाजे के ऊपर महन्त जी के मन्दिर में प्रसिद्ध राग-रागनियों के चित्र अंकित हैं परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ महन्तों के चित्र भी देखे जा सकते हैं। उस युग के समाज में साधु महन्तों का बोलबाला था। गलता में मन्दिरों के बाहर भित्तियों पर अनेकानेक चित्र बने हैं जिनमें राधा-कृष्ण सम्बन्धी अधिक हैं पर युद्ध और सवारी सम्बन्धी दृश्य भी देखने को मिलते हैं। चामर धारिणी, शुक धारिणी परिचारिकाओं के चित्रण भी देखने को मिलता है जिनसे नारी जीवन चर्या पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

शेखावाटी

राजस्थान के उत्तर पश्चिमी भाग शेखावाटी में नवलगढ़, रामगढ़, सीकर, मण्डावा, फतेहपुर, सीकर स्थानों पर वणिकों की हवेलियों में असाधारण सुन्दर चित्र मिलते हैं। वास्तव में राजस्थान के सामाजिक जीवन की झांकी इन्हीं चित्रों में देखने को मिलती है। डूंग जी जुझार जी जो डाकू थे परन्तु अपने समय के परम वीर और समाज सेवी एवं उदार थे, का चित्र ऊंट पर सवार देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त यहां के जितने भी उद्योगपति और सामन्त लोग थे, सदा से ही अपनी निवास भूमि छोड़ कर युद्ध में या व्यापार में परदेश चले जाते थे। इसलिये वियोग, बारह मास या प्रेम कथाओं की उद्भावनाओं का यहां अधिक चित्रण हुआ है। बींजा, सोरठ, लैला-मजनू, जलाल-बूबना, ढोला-मरवण, मधु मालती, प्रेम कथाओं का यहां बहुतायत से चित्रण हुआ है। हाथियों के रथ, ऊंट गाड़ी, रेल गाड़ी, सिपाहियों का अंकन यहां प्रचुर मात्रा में हुआ है। रेलगाड़ी और अंग्रेज ब्रिटिश युग में जनता के कौतूहल की चीज थी इसीलिये रेलगाड़ी व हवाई जहाज दोनों के अंकन स्थान-स्थान पर देखने को मिलते है। गर्मी व वर्षा का भी मरु प्रदेश में पृथक-पृथक महत्त्व होता है इसलिये पवा झलती स्त्रियां या श्रावण में झूला झूलती रमणियों के दृश्य देखने को मिलते हैं। तीज और गणगौर के अंकन मुख्य रूप से अपना स्थान रखते हैं क्योंकि तीज-गणगौरों के त्योहारों पर विदेश गये पतियों के देश में लौटने की उद्भावनायें नारियों ने की हैं। शेखावाटी में भी सभी स्थानों पर अवतारों, रागरागनियों और बारह मास के चित्रण की परम्परा तो थी ही, यह परम्परा समान रूप से सम्पूर्ण राजस्थान में विद्यमान थी।

अलवर

राजगढ़ के किले में म. विजयसिंह के समय के सुन्दर चित्र उपलब्ध होते हैं। जिनमें सामान्यतः नायिकाओं के विषय उपलब्ध होते हैं। शृंगार रता, तबला बजाती, सितार बजाती, होली खेलती, कांटा निकालती, अंगड़ाई लेती, अभिसारिका नायिकाओं के अंकन से विदित होता है सामान्य जीवन सम्बन्धी चित्रण की ऐसे स्थानों पर उपेक्षा होती थी क्योंकि जहां चित्र बनते थे वे स्थान राजाओं, सामन्तों के विलास स्थान होते थे।

दीवान जी की हवेली, अलवर

हवेली में म. बख्तावर सिंह की शिकार सवारी, हाथियों की लड़ाई, झूला झूलती स्त्रियां, महफिल के दृश्य अंकित हैं।

उदयपुर

उदयपुर में वाफना की हवेली, बारहठ की हवेली, गणगौर घाट, रामद्वारा (पीछोला) कोठारी की हवेली, गणेशीलाल भट्ट की हवेली, दौलतराम तिवाडी तथा उदयपुर के महलो मे भित्ति-चित्र उपलब्ध होते हैं जिनके सब ही के विषय शिकार, सवारी, दरबार, गणगौर और हाथियों से सम्बन्धित हैं। जगनिवास में महाराणा भीम सिंह का चित्र दो विदेशी महिलाओं के साथ अंकित है जो शायद पुर्तगाली नायिकायें थीं और महाराणा भीमसिंह की रखेल थी। प्रतीत होता है विदेशी महिलाओं से भी राजाओं का विवाह या प्रेम सम्बन्ध होता था। इन्हीं महिलाओं के लिये जो आरामगाह बनाई गयी थी, उसे सहेलियों की बाड़ी बोला जाता है।

जोधपुर

जोधपुर के किले में भित्ति चित्र उपलब्ध होते हैं जिनमें अधिक दृश्य राजाओं को मद्य पिलाने के, अंगडाई लेते हुये, शृंगार करते हुये हैं। जोधपुर के राजा मानसिंह नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित थे इसलिये राजा के साथ रानियां भी नाथ साधुओं के सामने हाथ जोड़े दिखाई देती हैं। रीति काल में जो उद्भावनायें साहित्य में स्त्री के लिये की गयी, उन सभी का अंकन भित्तियों पर मिलता है। जब कैमरे का ईजाद नहीं था तो कलाकार की स्त्री विषयक समस्त कल्पना चित्रों में स्थान पाती थी और कलाकारों के प्रोत्साहक भी इस बात का अनुसरण करते थे।

बीकानेर

जूनागढ़ के किले मे बीकानेर के उस्ता परिवार के बनाये श्रम साध्य चित्र मुगल चित्रों से बहुत साम्य रखते है। तैल और जल पद्धति मे बनाये जाकर वार-निश से पक्के किये गये चित्र अपनी पृथक ही महत्ता रखते है। परन्तु विषय समस्त चित्रों के धार्मिक ही हैं। सामाजिक जीवन का इन चित्रो मे भी अभाव ही दिखाई देता है।

नागौर का किला

किले में निर्मित भित्ति चित्रों मे हुस्न दोष वरदोष, उद्यान मे नायिकाओं का मद्य सेवन, स्नान करते समय हौज में मद्यपान करती नायिकाओं का संगीत द्वारा मनोरंजन विषय मुख्य है। शुक धारिणी अंगडाई लेती नायिकाओं के चित्रण भी सामान्य हैं।

कोटा

झाला जी की हवेली, श्रीधर देवता की हवेली, बडा महल, छतर महल, अर्जुनमहल, रसिक बिहारी का मन्दिर के भित्ति चित्रो में पतग उड़ाती, काटा निकालती, बुलबुल को अंगुली पर बिठाये स्त्री, महाराज उम्मेदसिंह और किशोरसिंह शिकार करते, राजाओं के दरीखाने, गणगौर की सवारी के दृश्य, युद्ध के दृश्य, हाथियो की लड़ाई के दृश्य देखने को मिलते हैं। कोटा के चित्र 18वी शती के माने जाते है। अंगड़ाई लेती पुत्तलिका का अंकन कोटा मे मुख्य रूप से हुआ है। रसिक बिहारीजी के मन्दिर में कामसूत्र के चित्र भी बने हैं। प्रतीत होता है कि काम कला उस युग मे शिक्षा का एक अंग थी और मन्दिरों मे चित्रो और मूर्तियो के माध्यम से उनका चित्रण कोई बुरी बातन ही समझी जाती थी।

बूंदी

बूंदी के रंगविलास के चित्र तो जगत् विख्यात हो चुके हैं। महल अब केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के अधीनस्थ सुरक्षित है। चित्रों मे हाथियों की लड़ाई, राजाओं का नाथ के साथ मद्यपान का मनोविनोद, हाथी-घोड़े की सांटमारी विषय मुख्य हैं।

उपरोक्त सभी स्थानों के भित्ति चित्रो को देखने से सामान्य तथ्य जो सामने आता है वह यही है कि शेखावटी के भित्ति चित्रों मे तो अवश्य सामाजिक जीवन की झांकी देखने को मिलती है परन्तु अन्य सभी स्थानो पर राजसी वैभवपूर्ण जीवन

चित्रण ही दिखाई देता है जिनमें हाथी घोड़े सवारी, मद्यपान, महफिल, रनिवास, प्रेम लीला संबंधी विषय ही प्राप्त होते हैं। जिनके माध्यम से कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन किन दशाओं में चित्रित किया गया था। शास्त्रीय धार्मिक चित्र तो सभी स्थानो पर उपलब्ध होते हैं पर उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्य जीवन का क्या स्तर और क्या स्थिति थी। साधारण घरो में चित्र बनाये नही जाते थे, जो बनाये जाते थे वे जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है सामन्तों, राजाओं, धनाढ्य लोगो के घरों में बनाये जाते थे और उन पर उन्ही लोगों के जीवन स्तर की छाप अधिक होती थी। वैसे भी हमारे शास्त्रों के अनुसार आवासों में हाथी-घोड़े, कमल, घट पल्लव, धार्मिक विषयों का ही चित्रण शुभ माना गया है। साधारण जीवन का चित्रण भारतीय परम्परा के अनुसार वर्जित है। यह भी कारण है सामान्य जीवन चित्रों मे अंकित नही किया गया किया भी गया तो वह बहुत बाद के चित्रो में जिनमें लोक कला का प्रभाव अधिक है।

□

बीकानेर

जूनागढ़ के किले में बीकानेर के उस्ता परिवार के बनाये श्रम साध्य चित्र मुगल चित्रों से बहुत साम्य रखते हैं। तैल और जल पद्धति में बनाये जाकर वार-निश से पक्के किये गये चित्र अपनी पृथक ही महत्ता रखते हैं। परन्तु विषय समस्त चित्रों के धार्मिक ही हैं। सामाजिक जीवन का इन चित्रों में भी अभाव ही दिखाई देता है।

नागौर का किला

किले में निर्मित भित्ति चित्रों में हुस्न दीप दरदीप, उद्यान में नायिकाओं का मद्य सेवन, स्नान करते समय हौज में मद्यपान करती नायिकाओं का संगीत द्वारा मनोरंजन विषय मुख्य है। शुक धारिणी अंगड़ाई लेती नायिकाओं के चित्रण भी सामान्य हैं।

कोटा

झाला जी की हवेली, श्रीधर देवता की हवेली, बड़ा महल, छतर महल, अर्जुनमहल, रसिक बिहारी का मन्दिर के भित्ति चित्रों में पतंग उड़ाती, कांटा निकालती, बुलबुल को अंगुली पर बिठाये स्त्री, महाराज उम्मेदसिंह और किशोरसिंह शिकार करते, राजाओं के दरीखाने, गणगौर की सवारी के दृश्य, युद्ध के दृश्य, हाथियों की लड़ाई के दृश्य देखने को मिलते हैं। कोटा के चित्र 18वीं शती के माने जाते हैं। अंगड़ाई लेती पुत्तलिका का अंकन कोटा में मुख्य रूप से हुआ है। रसिक बिहारीजी के मन्दिर में कामसूत्र के चित्र भी बने हैं। प्रतीत होता है कि काम कला उस युग में शिक्षा का एक अंग थी और मन्दिरों में चित्रों और मूर्तियों के माध्यम से उनका चित्रण कोई बुरी बात नहीं समझी जाती थी।

बूंदी

बूंदी के रंगविलास के चित्र तो जगत् विख्यात हो चुके हैं। महल अब केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के अधीनस्थ संरक्षित है। चित्रों में हाथियों की लड़ाई, राजाओं का नाच के साथ मद्यपान का मनोविनोद, हाथी-घोड़े की सांठमारी विषय मुख्य हैं।

उपरोक्त सभी स्थानों के भित्ति चित्रों को देखने से सामान्य तथ्य जो सामने आता है वह यही है कि शेखावाटी के भित्ति चित्रों में तो अवश्य सामाजिक जीवन की झांकी देखने को मिलती है परन्तु अन्य सभी स्थानों पर राजसी वैभवपूर्ण जीवन

चित्रण ही दिखाई देता है जिनमें हाथी घोड़े सवारी, मद्यपान, महफिल, रनिवास, प्रेम लीला संबंधी विषय ही प्राप्त होते हैं। जिनके माध्यम से कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन किन दशाओं में चित्रित किया गया था। शास्त्रीय धार्मिक चित्र तो सभी स्थानो पर उपलब्ध होते हैं पर उनसे यह नही कहा जा सकता कि सामान्य जीवन का क्या स्तर और क्या स्थिति थी। साधारण घरों में चित्र बनाये नही जाते थे, जो बनाये जाते थे वे जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है सामन्तों, राजाओं, धनाढ्य लोगो के घरों में बनाये जाते थे और उन पर उन्हीं लोगों के जीवन स्तर की छाप अधिक होती थी। वैसे भी हमारे शास्त्रों के अनुसार आवासों में हाथी-घोडे, कमल, घट पल्लव, धार्मिक विषयों का ही चित्रण शुभ माना गया है। साधारण जीवन का चित्रण भारतीय परम्परा के अनुसार वर्जित है। यह भी कारण है सामान्य जीवन चित्रों में अंकित नही किया गया किया भी गया तो वह बहुत बाद के चित्रों में जिनमें लोक कला का प्रभाव अधिक है।

□

आधुनिक चित्रकला

कला के विषय में वैसे तो प्राचीन और अर्वाचीन की परिभाषा उसे एक सीमा में बांध देती है। कला कला, है चाहे वह किसी भी युग विशेष में रही हो। हर कला अपने समय में अर्वाचीन रही है। अन्य चित्रण की परम्परा छ: सौ वर्ष तक इस देश में रही। भित्ति चित्रों से हटकर पुस्तक लघु चित्रों का एक नवीन महत्त्व रहा। उस परम्परा से हटकर शास्त्रीय स्वतंत्र लघु चित्र मुगल और राजपूत काल में बने तो वह भी एक नया प्रयोग था जिसमें ईरान और पाश्चात्य देशों का भी समन्वय था। पाश्चात्य कला का पदार्पण हुआ और तैल व्यक्ति चित्र बनने लगे वह भी एक नया मोड़ सिद्ध हुआ। अजन्ता के आधार पर वाश शैली के चित्र पचास वर्ष पूर्व बने वह भी एक नया प्रयोग कहा जाता था।

यही तथ्य आज भी लागू होता है। जो शैली आज प्रचलित हैपहले से विदेशों में पुरानी हो चुकी है। यहां नवीन के नाम से प्रारम्भ हो गयी है। फिर भी आज उसी की चर्चा है उसी के लिये जिज्ञासा है इसलिये आवश्यक है कि उसके विषय में कुछ जानकारी मिल जाय।

आधुनिक कला के विषय मे तरह तरह की बेतुकी चर्चायें सुनने को मिलती हैं परन्तु उसकी भी पृष्ठभूमि है, नियम है, व्याकरण है।

कलाकार के अवचेतन मन की संवेगात्मक अभिव्यक्ति आधुनिक कला है जिसमे प्रखर रंग, विस्पण गति, सांकेतिकता और सरलीकरण का समावेश होता है। आधुनिक कला का जन्म यूरोप से हुआ है। अठारहवीं शती तक ऐतिहासिक धार्मिक चित्र गहरे भूरे रंगों में बनाये जाते थे जिनमें उदासी और गम्भीरता की छाया झलकती थी। लोग उन्हें देखते-देखते थक चुके थे। चित्र एक शास्त्रीय अभ्यास बन गया था।

ऐसे समय मे प्रभाववादी कलाकारो के समूह ने विक्टोरियन शास्त्रीय पद्धति को चुनौती दी। उन्होने प्रकाशयुक्त विन्यास का दृश्य चित्रों में प्रयोग किया। उधर मशीनीकरण और नये आविष्कारों ने एक क्रांति खड़ी कर दी। प्रथम

महायुद्ध की विभीषिका, बेकारी, भुखमरी ने युद्ध से पूर्व के स्थिर समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया। कलाकार चुप न रह सका। युवा कलाकारों में जर्मनी, इग्लैण्ड, स्पेन, अमेरिका चारों ओर के कलाकार रेस्तरां में बैठते थे—विचारविमर्श करते थे—दल और समितियां बनाते थे। पेरिस इस आन्दोलन का केन्द्र बना और प्रभाववाद चारों ओर फैलने लगा। कलाकारों ने चित्रात्मक भाषा से नया समाज निर्माण करने की सोची। इस समय पाल सिजा ने प्रभाववाद का बीड़ा उठाया। मातीस ने प्रेस मे सबसे पहले शोरोगुल किया और फाविज्म की आवाज उठी। फाविज्म के अनुयायियों को जंगली जानवर कहा गया क्योंकि पूर्व के कलाकारो के शांत रंगों की समानता में इनके रंग प्रखर थे, इस ही कारण इन्हें जंगली की सज्ञा दी गई। विन्दुवाद भी फाविज्म का ही एक भाग था। स्यूरे और सिग्नेक इसके प्रचारक थे। वॉनगाग ने इस समय एक प्रदर्शनी की। वामिन्क और डिरैन भी इस ही सम्प्रदाय के थे। मारक्यू, मेनगुइन, मातीस, पुई और कैमोई इस आन्दोलन के अनुयायी बने। "आटमसेलन" मे इन लोगों ने प्रदर्शनी लगाई परन्तु आन्दोलन थोड़े ही समय चल पाया। इस शैली मे कोई भी साधारण विषय हो रंग ही उसमें स्फुरण और उल्लास पैदा कर सकता था। फाविज्म का यही मन्तव्य था।

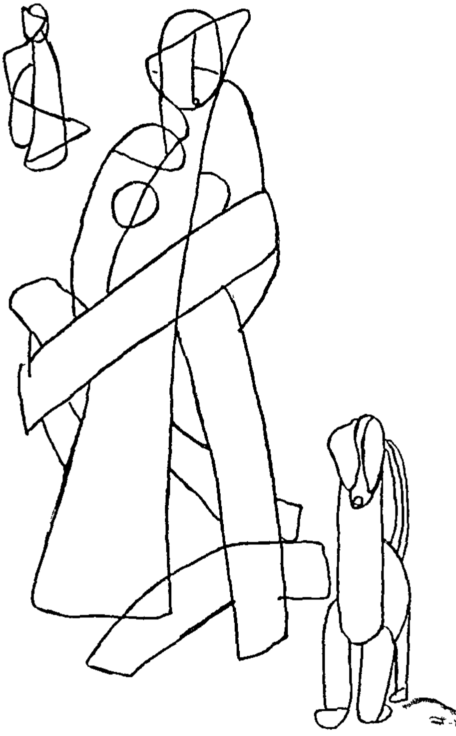
इसके पश्चात क्यूबिस्ट का जन्मदाता पिकासो हुआ। क्यूबिज्म का प्रचार अधिक हुआ। फाविज्म, क्यूबिज्म, इम्प्रेशनिज्म के अनुसरण करने वालों ने एक पत्रिका में कला के विषय में स्वतंत्र विचार लिखे। यहां तक कि कलाकारो की कृतियां नहीं बिकी तो उन्होने निश्चय किया कि बिना बिक्री के ही निर्वाह करेंगे। कृतियों का प्रदर्शन निःशुल्क करेंगे। कलाकारों ने निश्चय किया कि उनका काम समाज को कलंकित करना है और समाज का काम अपने को बचाना है। कलाकार और समाज के बीच जो खाई है वह प्रतिस्पर्धा और अविश्वास के कारण है। जिसका पलड़ा भारी हो वही समझौता कर ले और कला को समझाने की क्षमता बनाये।

घनवाद : हृदय, जगत की वस्तुओं मे किसी न किसी अंश में तोड़-फोड़ को स्वीकार करता है उसमे रंग भी वास्तविक नही होती। क्यूबिज्म भी बीसवी शती के प्रारम्भ के वातावरण के प्रति जिज्ञासापूर्ण, पेरिस का, एक आन्दोलन कहा जा सकता है। इसके अनुयायी पिकासो, ब्रेक, लुई, मारक्यूसिस, जेवि विलोभ, मार्शल ड्यूशम कलाकार हुये है। बीसवी शती के प्रारम्भ मे पिकासो के विख्यात "डेमसल्स" चित्र ने घनवाद शैली की स्थापना कर दिया। कलाकारो ने अवान्त गार्दे सस्था का नेता पिकासो को चुन लिया। क्यूबिज्म की, फ्रान्स से बाहर रोम, बर्लिन, मास्को, वार्सिलोन और लन्दन तक ख्याति हो गई। क्यूबिज्म का अर्थ यह नही है कि चित्र को क्यूबस में बनाया जाय बल्कि यह है कि प्रकृति को सिलेन्डर,

कोन्स व स्फियर्स के माध्यम से उपयुक्त दृष्टिक्रम में इस तरह बनाया जाय कि चित्र का सारा संयोजन उसके केन्द्र विन्दु की ओर उन्मुख हो। यह बतलाया जा चुका है कि उन्नीसवीं शती की चित्र परम्परा के विरुद्ध युवा कलाकारों में, प्रयोग, सर्वेक्षण, नवीन दार्ष्टिक उत्तेजना, निग्रो आर्ट के माध्यम से पैदा हुई—रंगों की नई विधायें "पाल सिजा" और "हेनरी रूसो" के कारण ज्ञात हुई। "ब्रेक" चूंकि मकान पोतने वाले ठेकेदार का लड़का था इसलिए कांक्रीट लकड़ी व लोहे के उपकरणों से परिचित था, उसने चित्र में इनके द्वारा धरातल में टैक्सचर उत्पन्न किया। उसने अखबार के कागज, वाल पेपर सब ही का उपयोग किया। बायलिन, बाटल, ग्लास एण्ड पाइप्स, थ्री म्यूजिशियन्स विषयक चित्रों में घनवाद के अलंकरण की विधाओं का परिचय मिल जाता है।

अभिव्यंजनावाद की विशेषतायें फाविज्म से मिलती-जुलती हैं परन्तु अन्तर इतना है कि अभिव्यंजनावाद में दृढ़ रेखाओं का प्रमुख होता है—रंग काले और भूरे होते हैं जिनका आशय, जीवन के संघर्ष एवं यंत्रणाओं की अभिव्यक्ति होती है। इस शैली के मुख्य कलाकार "कैंडन्सिकी", "जालन्सकी" "मैक्सबेकमैन", "कोकोशका", "एडवर्ड मंच", "किर्चनर" हुये हैं और जर्मनी इसका क्षेत्र रहा। क्यूबिज्म ने फाविज्म को हटा दिया परन्तु एक्सप्रेशनिज्म ने क्यूबिज्म को अपने मे आत्मसात कर लिया। एक्सप्रेशनिज्म प्रधानतया संवेदनाओं और मानव के अन्तर्मन के संघर्ष की ओर इंगित करता है। मानव को, जीवन मे निराशा आतंक और धोखा मिला, इसलिये इस शैली चित्रों में निराशा का अंकन हुआ। एक्सप्रेशनिज्म कोमलता आकर्षण और आनन्दवाद से परे है। राष्ट्रीयता की भावना के कारण उसमें कठोरता, शक्ति और उत्पीड़न का समावेश होता है।

भविष्यवाद एक ही विषय को अनेको स्थितियों में जो कि एक दूसरे से सम्बन्ध हो दिखलाना भविष्यवादी कला का नाम है। इसमे चित्र का विषय यथार्थ एवं सीधा नही होता बल्कि उसका समस्त क्षेत्र और रेखायें विभक्त होती हैं—क्यूबिज्म से समानता होती है। इसके अनुयायी आगे देखते थे और ऐसी कृतियां बनाते थे जो भविष्य के लिये महत्व रखती थीं। इटली का कवि और कलाकार फिलिपियों मेरिनिटो इस शैली का जन्मदाता था। वह और उसके अनुयायी "बोसियोनी", "ह्यूशैम", "रसोलो", "कालीकारा" मानवता में गति को प्राथमिकता देते थे। नये युग के लिये उनके आगे बढ़ने वाले विचार थे—पीछे की ओर वे नहीं देखना चाहते थे। कविता में साहस, गति, संघर्ष, आशावाद में विश्वास करते थे उसी प्रकार चित्रों में भी। युद्ध की यश गाथा, देश भक्ति में रुचि और नारों से दुराव पर विश्वास करते थे। वे चाहते थे कि नये मशीन युग की नई चेतना मे ऐसी कला की आवश्यकता थी जो पीछे भूत की ओर मुड़ कर न देखे। कला मात्र मशीन और उसकी गति पर आधारित हो। "न्यूड प्राव दि स्टेयर्स" अथवा "डाग आन दि लीश" इसके सुन्दर



मार्मिकता, लोक सामीप्य का अभाव था। प्राचीन इतिहास और साहित्य ही उनका आधार रहा।

इस परम्परा को तोड़ने में सबसे पहला कदम "गगनेन्द्र नाथ ठाकुर" ने उठाया था। उन्होंने विदेशी अभिनव कला का अध्ययन विदेश में ही किया था इसलिये उनके प्रयोगो एव परीक्षणों में बौद्धिक पैठ थी। पेरिस, अमेरिका, लन्दन में उनकी कृतियों को समर्थन मिला और वे प्रभाववादी शैली से प्रभावित हुये।

उनके बाद अमृता शेरगिल ने युरोपीय कला के आवश्यक तत्त्वों को लेकर भारतीय कला में समन्वय किया। उन्होने पिछड़े समाज की दरिद्रता को उदास मुर्झाये चेहरों में पीले और भूरे रंगों मे चित्रित किया। भारतीय नई पीढ़ी के लिये एक नया मार्ग निर्दिष्ट किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देश में नये प्रयोगों की होड़ लग गई परन्तु जो काम यूरोप में सौ वर्ष पूर्व ही हो चुका था उसका प्रारम्भ यहां पचास वर्ष पूर्व हुआ। वास्तव में देखा जाय तो प्राचीन राजस्थानी मेवाड़ के चित्रों में प्रभाववाद "चौर पन्चासिका" के चित्रों के रंग विन्यास, में उपलब्ध होता है। तान्त्रिक एवम् लोक कला में आधुनिकतम अमूर्त अभिव्यक्तियां-रंगों को विविधतायें मिलती हैं जो सम्भवत: यूरोप वालों ने भारतीय इन्ही चित्रों से प्राप्त की हो। अन्तर इतना है कि युरोप वालों ने अपनी कला का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण किया और उसे आकाश तक पहुंचा दिया। जब उन्होंने मार्ग दर्शन किया तो हमने हमेशा अनुकरण किया। जितना भी आधुनिक कला विधाओं के विषय में बतलाया गया है उससे विदित होता है कि प्रत्येक का उद्गम स्वत: किसी न किसी तत्त्व मशीनीकरण, औद्योगीकरण, विवशता, संघर्ष, युद्धोतर ध्वंस से प्रेरित होकर या सरमायादारी के विरुद्ध हुआ है वह किसी प्रशंसा या पुरस्कार प्राप्ति की लालसा के कारण नहीं हुआ। हमारे यहां इस प्रकार की कोई क्रान्ति या संघर्ष नहीं हुआ यदि हुआ भी तो कलाकार तक उसका भार नहीं पड़ा। इस कारण हमारी कला में यूरोप जैसी अभिव्यन्जना-अभिव्यक्ति या अभिनवता नहीं आ पाई है। हमारे कलाकार जिस आधुनिक कला को सृजनात्मकता का नाम देते हैं वह प्रायोगिक कही जा सकती है। परन्तु फिर भी कुशल कलाकार परम्परा को तोड़कर नवीनता पैदा करने के लिये उत्पीड़ित हुये हैं।

हैब्बर, बेन्द्रे, चावड़ा, जार्जकीटस्, हुसैन, रजा, सूजा, अकबरपदमसी, कृष्णन, लक्ष्मण पई, दिनकर कौशिक, सतीश गुजराल, रामचन्द्रन, कुलकर्णी,

पणिक्कर, रायबा, हिम्मतशाह, सुल्तान अली, शान्ति दवे, यामिनी राय कलाकारों ने अभिनव प्रयोग किये हैं। परन्तु उन्हें शैलियो के चौखट में बांधना उपयुक्त नहीं होगा। उनके चित्र यूरोप के समान एक विशिष्ट समुदाय की शैली से प्रभावित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जो कलाकार प्रचार और पत्रकारिता में विश्वास करते हैं वे आगे बढ़ गये हैं। जो वास्तविकता में सृजनात्मक काम करते हैं उन्हें कम लोग जान पाये हैं। हुसैन का नाम प्रचार की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ गया है। आधुनिक अथवा समसामयिक कही जाने वाली कला सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो चुकी है और राजस्थान प्रदेश भी उससे अछूता नही रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात राजस्थान ललित कला अकादमी की स्थापना और उसके द्वारा आयोजित प्रदर्शनियों के माध्यम से प्रचार और प्रसार हुआ है, और लगभग सभी युवा कलाकार आधुनिक शैली में कार्य करने लगे हैं।

उदयपुर के चोयल परिवार के चित्रों में मेवाड़ के स्थानीय परिवेश, स्थापत्य, प्राकृतिक सौंदर्य का आधुनिक के साथ सुन्दर योग देखने को मिलता है।

श्री रामगोपाल विजयवर्गीय और द्वारका प्रसाद उन कलाकारो में से हैं जो आकृति मूलक पारम्परिक संसार से जुड़े रहे परन्तु अमूर्त कला के विकास में भी उन्होंने योगदान दिया है। श्री द्वारका प्रसाद भित्तियो के मुनव्वती काम, लघु चित्र पद्धति, पोर्ट्रेट विधा के साथ आधुनिक से भी भली भांति परिचित हैं। श्री विजयवर्गीय ने पारम्परिक शास्त्रीय चित्रों के साथ-साथ लोक जीवन का भी विशद चित्रण किया है जिनमे किसान, श्रमिक सभी हैं। वरिष्ठ कलाकारों में पद्म श्री कृपालसिंह शेखावत, गोवर्धन जोशी, रामजयसवाल, देवकी नन्दन शर्मा के नाम उल्लेखनीय है जो अकादमी द्वारा प्रदत्त "कलाविद" की उपाधि से भी शोभित हैं। युवा कलाकारों में सर्व श्री शैल चोयल, किरण मुरडिया, श्रीमति सुरजीत कौर, शब्बीर हसन काजी, मीनाक्षी काजी, विद्यासागर उपाध्याय श्री एम. के. शर्मा "सुमहेन्द्र", राधा वल्लभ गौतम, सुरेश राजोरिया, दिलीप सिंह चौहान, समन्दर सिंह खंगारोत, शैलेन्द्र भटनागर, सुरेश शर्मा, लक्ष्मीलाल वर्मा, भवानी शंकर शर्मा, वसन्त कश्यप, ज्योति स्वरूप, प्रेमचन्द गोस्वामी, वीरबाला भावसार, अब्दुल करीम रामेश्वर सिंह, के नाम विशिष्ट उल्लेखनीय है जिन्होने प्रकृति, तन्त्र, स्टिल लाइफ, ज्यामितिक फार्मस् के विभिन्न रूपाकारो, रेखाओं और रंगों को परम्परा के नियम व्याकरण आदि से विच्छिन्न कर मूर्त अमूर्त दोनों रूपो में एक स्वायत संसार बनाया है।

□

रेखाचित्र

बिन्दुओं के क्रमिक एवं अबाध योग से रेखा का अस्तित्व सामने आता है। रेखा दो बिन्दुओं या दो सीमाओं के बीच की दूरी है जो गति का दिशा निर्देश करती है लेकिन कला पक्ष के अन्तर्गत रेखा का प्रतीकात्मक महत्त्व है और रूप की अभिव्यक्ति व प्रवाह को अंकित करती है। कलात्मक रेखा किसी भी आकार की गति एवं शक्ति का प्रतीकात्मक रेखांकन है। रेखा, चित्र का विशेष गुण है। रेखाओं के कुछ प्रभाव होते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी मनोदशाओं एवं संवेदनाओं से होता है और चित्र संरचना में इन रेखीय गुणों का समावेश होता है। रेखायें अनेक प्रकार की होती हैं जैसे लम्बवत, आड़ी, कर्णवत, कोणीय, चक्राकार और प्रवाही। आकृति का पूर्व परिचित रूप बिना देखे चित्रण करना स्मृति रेखांकन कहलाता है तथा जैसा देखा गया है वैसा ही बनाने का प्रयत्न किया गया है तो वह प्रतिरूपात्मक रेखांकन की परिगणना में आता है। यांत्रिक रेखांकन में कलात्मक प्रभाव नहीं होता। प्रकृति अथवा वस्तु में अपनी कोई रेखा नहीं होती है बल्कि प्रकाश व छाया के कारण सीमा रेखा का नियमन हो जाता है और उसे अंकित करने पर वस्तु का रूपाकार निर्मित हो जाता है। रेखा में एक उष्मा एवं प्रवाह होता है। यदि किसी रेखा या आकार मे प्रवाह नहीं है तो उसमें सक्रियता का अभाव प्रतीत होता है। रेखा चित्र संयोजन का एक मुख्य तत्त्व है। शीघ्रता से एवं तीव्र संवेदनाओं के साथ खींची गई रेखायें प्रभावोत्पादक तथा सशक्त होती हैं।

प्राचीन युग में रेखाओं द्वारा जिन कृतियो की रचना की गई है उनमें असम्भूत सौंदर्य पाया जाता है। गुहावासी मानव ने आदिम अवस्था मे ही स्वाभाविक रूप से रूपाकारो को स्मृति रेखांकन में आबद्ध कर लिया था। उसने नाना प्रकार के आखेट सम्बन्धी रेखा चित्र शैलाश्रयों में बना डाले जो उनके प्रवाह के कारण महत्त्वपूर्ण समझे जा रहे हैं। शैलाश्रयों के चित्रों की रेखाओं के भावपूर्ण आलेखन उनकी सरलता व अभिव्यंजना के गुणों के कारण संसार प्रसिद्ध है। राजस्थान में प्रागैतिहासिक कालीन शैलाश्रयों के रेखा चित्र दक्षिण पूर्व में हाड़ौती



प्रदेश में उपलब्ध हुये हैं जिनसे राजस्थान की चित्रकला के प्राचीनतम इतिहास की समुचित जानकारी प्राप्त होती है। निश्चित और स्वाभाविक कला अभिव्यंजनात्मक होती है। इन आदिम कृतियों में मानव की अपनी रचनायें अथवा क्षुधानिवारणार्थ हिंसक पशुओं को विभिन्न प्रस्तर आयुधों द्वारा मारते हुये, घेरा डाल कर आक्रमण करते हुये, नृत्य करते हुये, धनुष चलाते हुये देखा जा सकता है। इन चित्रों में यद्यपि शरीर रचना में प्रमाण का अभाव है परन्तु गुण भावनात्मक है। प्रागैतिहासिक कलाकार अविकसित एवं साधनहीन था परन्तु उसके रेखा चित्रों में तत्कालीन जीवन के आन्तरिक उल्लास और भावों का सहज ज्ञान उपलब्ध होता है। गुहावासी मानव द्वारा निर्मित रेखा चित्रों को लाखों वर्ष बीत जाने पर भी रचनात्मक अर्थ में आधुनिक निर्णीत किया गया है। बाल कला भी आदिम कला के समान स्वाभाविक, सरल एवं अभिव्यंजनात्मक मानी जाती है। आदिम व बाल कला की विशेषताओं के आधार पर ही आधुनिक कलाकार भी उनके अनुकरण पर विस्थापित कला का निर्माण करने में वर्तमान में संलग्न है।

सिन्धु सभ्यता कालीन मृत्तिका पात्रों पर मानवाकृतियां पशु पक्षी अथवा ज्यामितिक आलेखन उपलब्ध होते हैं। इस ही क्रम में राजस्थान में भी काली बंगा, पीली बंगा, आहाड़, नोह आदि स्थानों के उत्खनन से मृत्तिका पात्र उपलब्ध हुये हैं जिन पर वृत्त, त्रिभुज आदि ज्यामितिक अलंकरण तथा पशु पक्षियों के चित्रांकन उपलब्ध हुये हैं।

अजन्ता, बाघ, बदामी, सित्तनवासल, जोगीमारा के बौद्ध कालीन भावपूर्ण चित्र संसार विख्यात हैं जो रेखा प्रधान हैं और जिनमें रस, माधुर्य, सौंदर्य, लालित्य सभी तत्वों का समावेश पाया जाता है। इन चित्रों में सीमित रंग हैं परन्तु रेखाओं के प्रवाह से ही समस्त रसों की सृष्टि इन चित्रों में की गई है। 10वीं से 15वीं सदी तक के जैन चित्रों में भी रेखाओं ही का बाहुल्य है जिनके माध्यम से सचित्र ग्रन्थों का निर्माण हुआ। देश के पूर्व में पाई जाने वाली प्रारंभिक ताड़ पत्र पुस्तकों मे अजन्ता शैली से प्रभावित वेणुवन, कमल कोश, हाथी की पंक्तियों के सुन्दर आदि रेखा चित्रों में प्राप्त होते हैं। बौद्ध ग्रन्थ चित्रों में बौद्ध शैली की स्पष्ट छाप दिखाई देती है जिनमें रेखायें गोलाकार और ललित हैं। परन्तु जैन ग्रन्थ चित्रों में रेखायें सीधी हैं, इन्हीं रेखाओं की परम्परा का निर्वाह कालान्तर में राजस्थानी [illegible] किया गया प्रतीत होता है। चित्रों की मुखाकृतियों में बड़ी आंखें, [illegible] दुहरी ठुड्डी, कपड़ों के त्रिकोणाकार पल्ले, हंस कमल हाथी आदि [illegible] अलंकरण उपलब्ध होते हैं। अजन्ता शैली से विकृत होकर उसका अपभ्रंश कला कहलाई।

16वीं सदी में मुगल कला, जो ईरानी और भारतीय ग्रन्थ चित्रण परम्परा के पारस्परिक सहयोग से प्रकाश में आई, में यूरोपीय कला के प्रभाव के कारण रेखाओं के साथ छाया प्रकाश का भी प्रचलन हो गया था जो परदाज द्वारा प्रस्तुत किया जाने लगा। मुगल रेखाओं में कौशल, यथार्थ, प्रमाण, दृष्टिक्रम आदि की सफलता पाई जाती है परन्तु प्रवाह अभिव्यंजना और लावण्य समाप्त सा दिखाई देता है। युद्ध, व्यक्ति चित्र, दरबार के दृश्यों की बहुलता के कारण एक ही चित्र में अनेकानेक आकृतियों का समावेश दिखाई देता है जबकि पूर्व मुगल चित्रों में आकृतियां अधिक नहीं बनाई जाती थीं। मुगल युग मे तो चित्र कई चित्रकारों के हाथों से निकलता था इस कारण चित्र में रंग एक कलाकार द्वारा भरा जाता था तो रेखांकन या खुलाई दूसरे चित्रकार द्वारा की जाती थी जो उस कार्य में सिद्धहस्त होता था जिसे तैराहगर कहते थे। मुगल रेखा चित्र स्याह कलम के खाके कहलाते हैं। पूर्व मुगल व उत्तर मुगल कालीन चित्र पद्धति दोनो के मिश्रित प्रभावों के कारण विभिन्न राजपूत राज्यों मे जिस कला का विकास हुआ वह उन्हीं राज्यों के नामों से पहचाने जाने लगी। यह इन शैलियों की रेखीय विशेषतायें ही हैं जिनके द्वारा उन शैलियों की पहचान बनी।

कुछ शैलियों में रेखाओं में कौशल का आधिक्य होता है तो कुछ में लालित्य अभिव्यंजना आदि के लक्षण पाये जाते हैं। राजस्थान के कलाकारों ने नायिका भेद, राग रागनियां, बारह मास, मधुमालती, सदावृत्त, सावलिंगा, रामायण, सूर-सागर, दुर्गा चरित्र, रसिक प्रिया, भागवत, गीत गोविन्द, पृथ्वीराज रासो, काम सूत्र आदि काल्पनिक विषयों मे स्मृति रेखांकन का प्रयोग किया बाकी युद्ध, व्यक्ति चित्र, शिकार, लोक जीवन व रनिवास के दृश्य चित्रों मे प्रतिरूपात्मक रेखांकन का प्रयोग किया गया।

चित्रों में बनाते समय निश्चित विषय के कैंडे के अनुरूप रेखायें बना ली जाती हैं, उनको अन्तिम रूप नहीं दिया जाता था। रेखाओं पर दोहरा-तिहरा रेखायें भी कलाकार द्वारा अंकित कर ली जाती थीं। उनमें जो-जो रंग भरने होते थे उनको भी सूक्ष्मतम चिन्हित कर दिया जाता था। रंग लगाने के बाद खुलाई के समय उनको परिमार्जित रूप दिया जाता था, इससे कलाकार के अभ्यास की पुष्टि होती थी। चित्रकार की रेखांकन कुशलता के बिना तो चित्र बनाना ही संभव प्रतीत नहीं होता था। कल्पना को मूर्त रूप देने के लिये रेखांकन की प्रारम्भिक जानकारी आवश्यक होती थी। कलाकार को मुद्राओं का भी अभ्यास होता था ताकि जिस रूप में आकृति को संयोजित करना होता था उस ही के अनुरूप उसकी मुद्राओं को स्थान दे देता था। प्रारंभिक अभ्यास कराने के लिये शिष्यों को हाथी घोड़ा,

फूल का रेखाचित्र बनाना सिखाया जाता था। कोटा व बूंदी मे रेखीय खाके अन्य स्थानों से अधिक बने जिनमें गति और प्रवाह का निर्वाह अच्छा पाया जाता है। कोटा में लोक जीवन, शिकार, अंगड़ाई लेती स्त्रियां, हाथियों की लड़ाई, अश्वारूढ़ वीर पुरुष, होली और गणगौर के दृश्य अधिक बने। रामसिंह द्वि. के असंख्य रेखा-चित्र कोटा मे कलाकारो ने बनाये। जिन राजाओं ने कला को प्रोत्साहित किया उन्हीं के अ कृति चित्र अधिक बनाये गये।

बूंदी के रेखा चित्रों में लालित्य का बाहुल्य पाया जाता है। राग-रागनियां, बारह मास, नायिकाभेद विषयों के खाकों से वहां के कलाकारों के कुशल अभ्यास का पता चलता है। बूंदी के खाकों में लम्बी आँखें विरुपित शरीर रचना के प्रारंभिक लक्षण भी दृष्टिगत होते हैं। रेखा चित्र अभ्यास के लिये बनाये जाते थे या चित्रों को प्रारंभिक रूप देने के लिये। बहुधा कलाकार उनका अंतिम रूप देने से पहले ही जीवन लीला समाप्त कर देता था और उसके रेखा चित्र अभ्यास रूप में पड़े रह जाते थे। भित्ति चित्र बनाने के लिये भी रेखा चित्र बनाये जाते थे जिनमें रेखाओं के सहारे सूई से छेद कर लिये जाते थे तत्पश्चात काजल, गेरू या पिसे हुये कोयले की पोटली उन पर फेर दी जाती थी ताकि रेखांकन ज्यो का त्यो भित्ति पर अंकित हो जाता था। रेखाचित्र कलाकारों के शिष्यों द्वारा भी बनाये जाते थे जो गुरू की बनाई कृतियों का अभ्यास करते थे। इस कारण एक ही विषय की अनेक प्रतियां उपलब्ध हो जाती हैं।

मेवाड़ में स्मृति व प्रतिस्थात्मक रेखांकन दोनों ही प्रकार के रेखाचित्र प्राप्त होते हैं। प्रारंभिक लक्षण वाले रेखा चित्र मेवाड़ में भी प्राप्त होते हैं क्योंकि मेवाड़ के चित्र ही राजस्थान में सबसे प्राचीन, 1550 ई. तक के उपलब्ध होते हैं। मेवाड़ मे रागरागनियां, रसिक प्रिया, नायिका भेद, शिकार, अश्वारूढ़वीर पुरुषों के व्यक्ति चित्रों के रेखांकन उपलब्ध होते हैं। जोधपुर में प्रेम कथाओ व लोक कथाओं के विषय ढोला मारू, सदावृक्ष सावलिंग, मधुमालती व राजाओं के व्यक्ति चित्रो के रेखांकन उपलब्ध होते हैं।

किशनगढ़ शैली में विषय अति सीमित हैं। राधाकृष्ण के संयोग विषयक चित्र अथवा शृंगार नायिकाओं के रेखा चित्र सामान्यतः बनाये गये। जयपुर के रेखा चित्रों मे कौशल का आधिक्य पाया जाता है। गीत गोविन्द, रागरागनियों अथवा रीतिकालीन विषयो के ही रेखा चित्र जयपुर के चित्रकारो ने बनाये।

बीकानेर की रेखाओं में भी कौशल का चमत्कार दिखाई देता है, प्रवाह तथा गति का प्रभाव लक्षित होता है। वहां के उस्ता कलाकारों ने भित्तियों पर खूब काम

किया था इसलिये वहां छतों व भित्तियों पर बेल फूल व मुद्रवती अलंकरण के अभ्यास स्वरूप बनाये गये खाके व नायकों की विभिन्न चेष्टाओं के रुपाकार अधिकतया यत्र-तत्र संग्रहों में दिखाई देते हैं। नाथद्वारा मे श्री नाथ जी के मंदिर गोचारण दान लीला मान लीला उत्सवों व भोगादि विभिन्न झाकियों के रेखा चित्र ही बन पाये। कला प्रेमी और कला मर्मज्ञ सम्पूर्ण बने हुये चित्र से अधिक महत्त्व-पूर्ण रेखा चित्रों को मानते हैं क्योंकि उनमे प्रवाह और स्वाभाविकता अधिक पाई जाती है।

□

परावर्त्तित संस्कृतियां–लघु चित्रों की प्रतिकृतियां

प्राचीन चित्र जिन्हें आज अलभ्य, अमूल्य, सांस्कृतिक धरोहर और न जाने कितने ही नामों से जाना जाता है कुछ ही वर्ष पूर्व राजाओं, जागीरदारों या उनके यहां सेवारत लोगों के घरों में भी प्राय: उपलब्ध हो जाया करते थे। जब यह चित्र बनते थे उनकी इतनी कद्र नहीं थी परन्तु विदेशियों द्वारा उनकी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक उपादेयता के महत्त्व की जानकारी दिये जाने पर देश में भी कला प्रेमियों ने उनके महत्त्व को जाना। देश के धनाढ्य लोगों ने संग्रह करना प्रारम्भ किया तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय संग्रहालयों ने भी इनकी अवाप्ति प्रारम्भ कर दी। इस बढ़ती हुई मांग के कारण कुछ कला विशेषज्ञों ने इन चित्रों के क्रय-विक्रय का व्यापार प्रारम्भ कर दिया। इन प्राचीन चित्रों की इतनी खोजबीन हुई कि कि घर-घर से ढूंढ-ढूंढ कर इन्हें विदेशों मे या देश के संग्रहकर्ताओं के यहां पहुंचा दिया गया। चित्र बाहर अवश्य चले गये किन्तु किसी सीमा तक यह अच्छा भी हुआ क्योंकि देश मे सामान्य लोगों के हाथों वे नष्ट हो रहे थे, उनकी कागज की लुग्दियां बन रही थीं—ढूमले (टोकरियां) स्त्रियां घरों में बना रही थीं—पंसारी पाण्डुलिपियों के चित्रों की पुड़ियां बना रहे थे। विदेशियों ने इन महत्त्वपूर्ण चित्रों पर बहुत बड़ा साहित्य लिखा, उनकी महत्ता पर प्रकाश डाला, प्रदर्शनियां आयोजित की। देश में भी उनके अनुसरण पर विद्वानों ने भाषणों, रेडियो, वार्ताओं लेख-मालाओं द्वारा प्रकाश डाला। जनता में विवेक जाग्रत हुआ परन्तु धन्धे में मुनाफे की मात्रा अधिक होने के कारण अवांछित लोग इन चित्रों को सही या गलत तरीके से उपलब्ध करने लगे। इस समस्या के सामने आने पर भारत सरकार के पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग ने 1976 में एक विधेयक के द्वारा इन चित्रों के बाहर जाने पर रोक लगा दी तथा संग्रहोकर्ताओं और व्यापारियों को अपने संग्रह का पंजीकरण करवाना आवश्यक हो गया। इस प्रक्रिया द्वारा चित्रों की कमी हुई और विशेषज्ञों का ध्यान इनकी प्रतिकृतियों की ओर गया। प्रतिकृतियों का कार्य वैसे तो विधेयक

आने से बीस वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था परन्तु बड़े पैमाने पर विधेयक आने के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ। अब प्राचीन चित्रों की उपलब्धि बहुत ही कम या सीमित हो गयी है। उनके दाम इतने अधिक बढ़ गये हैं कि सामान्य कला प्रेमी उन्हें खरीदने की सामर्थ्य नही रख सकते तो प्रतिकृति ही खरीद कर अपनी रुचि की पूर्ति कर लेते हैं। विदेशी लोग भी अब प्रतिकृतियां ही खरीद कर अपनी तुष्टि कर लेते हैं। पहले राजस्थान में प्राचीन वस्तुओं और हस्तकलाओं की बहुत कम दुकानें थी पर अब हर नगर में दुकानों में वृद्धि हुई है, उसी अनुपात में प्रतिकृतियां बिकने में भी वृद्धि हुई है और मांग बढ़ती जा रही हैं साथ ही कलाकारों की संख्या भी बढती जा रही है। जयपुर प्राचीन चित्रों की प्रतिकृतियों के निर्माण का केन्द्र है। वैसे सामान्य रूप से तो नाथद्वारा, उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बून्दी, किशनगढ सभी स्थानों पर प्रतिकृतियां बनती हैं पर जिस कौशल और तद्वता से जयपुर में बनती हैं उसकी समानता अन्यत्र नहीं है। इसका कारण है, बनवाने वालों का, चित्रों की विशेषताओं का, गहन अध्ययन। कलाकार स्वयं इन विशेषताओं को उतना नही जानता जितना बनवाने वाला।

प्रतिकृतियों के लिये पुराने हाथ से बने कागज, देशी रंग और गिलहरी के बालों के ब्रुश काम आते हैं। कागज प्राचीन पाण्डुलिपियों, बहीखातों से प्राप्त होते हैं। कागजों को जोड़ कर बड़ा बना लिया जाता है। जिन कागजों की पुश्त पर दाग-धब्बे, पुरानी लिखावट होती है उन्हें दो या तीन को आवश्यकतानुसार ऊपर नीचे रख कर लेही से चिपका कर दफ्ती बनाई जाती है उसे वसली कहते हैं, उस ही वसली पर चित्र बनाया जाता है। विषयवस्तु की टिपाई की जाकर रंगों की घरावट की जाती है, तत्पश्चात् संगेमरमर की सिल पर शंख, अकीक की घूंटी, या कौडी से उस पर आड़ी और खड़ी घुटाई की जाती है जिससे रंगों में दबाव और चमक पैदा हो जाती है। कुशल कलाकार अन्त में रेखाओं और परदाज द्वारा खुलाई कर देता है जो बहुत ही बारीकी और कुशलता का काम होता है।

रंग, पत्थर, धातु, वृक्षों के द्रव आदि से निकलते हैं जिनके नाम हैं जंगाल, हरा भाटा, हिरमिच, पेवडी, लाजवर्द, हंसराज हिंगलू, नील, काजल, खड़ियां, गउ गोली आदि। जंगाल, ताम्बे के क्षार का, हरा रंग होता है—गउ गोली, गाय के पेशाब से पीले रंगों में तैयार होती है तथा हंसराज हिंगलू लाख से बनता है। सोने-चादी को हिलकारी बर्कों को घोट कर बनाई जाती है जो चित्र में कपड़ों व आभूषणों में लगाई जाती है। रंग की हिलकारी रंग को कूट कर तैयार की जाती है जो पानी बनाने या सजावट के लिये किसी भी स्थान पर काम में ले ली जाती है।

ब्रुश जीवित गिलहरी को पकड़ कर उसकी दुम से बाल काट कर उन्हें छोटे-बड़े के अनुपात मे लोहे के पोले में जमा कर बनाये जाते हैं, जो बहुत बारीक रेखायें खेंचने या परदाज सूक्ष्म बिन्दुलगाने के काम आते हैं। मोटे काम के लिये या रंग भरने के लिये मशीन से बने ब्रुश काम में लिये जाते हैं।

अनुकृति, शत प्रतिशत किसी प्राचीन चित्र के आकार, विषयवस्तु, शैली, रंग सज्जा के अनुरूप होनी चाहिये अन्यथा किंचित भी कमी रह जाने से उसका स्तर गिर जाता है। यह बात नहीं है कि अनुकृति को प्राचीन चित्र के समकक्ष मानकर मूल्यवान समझ लिया जाता है वरन् यह कि उसकी, कौशल क्षमता का का मान दण्ड, प्राचीन की अक्षरशः समानता पर ही निर्भर करती है। विदेशी या देशी संग्राहक उसको नकल समझ कर ही खरीदता है। बहुत से लोग यह धारणा रखते हैं कि प्रतिकृति को प्राचीन चित्र के मूल्य पर ही धोखे से बेचा जाता है। परन्तु बात बिल्कुल निर्मूल है। जो व्यक्ति प्राचीन चित्र का संग्रह करता है वह यह समझ रखता है कि नकल और असल में क्या अन्तर है।

शत प्रतिशत अनुकृति के अतिरिक्त बिगड़े हुये चित्र को ठीक करना या अधूरे चित्र को पूरा करना और भी महत्त्वपूर्ण काम है। किसी भी महत्त्वपूर्ण चित्र में कोई भी भाग बिगड़ जाता है तो उसे, चित्र को ठीक उसी शैली में पुनर्निर्माण (रेस्टोर) करवाया जाना बुरा नहीं समझा जाता। रेस्टोरेशन की कुशलता यहां तक होती है कि यदि चित्र की वसली दफ्ती में बड़े सुराख हो जायें, उस पर चिकनाहट गिर जाये, रंग उखड जाये तो यह सब कार्य भी निपुणता से ठीक कर लिया जाता है। बहुत से पुरानी परम्परा के कला विशेषज्ञ ऐसे हैं जो रेस्टोरेशन के काम को मान्यता नहीं देते। विदेशों में तो बड़े-बड़े कैनवास के अमूल्य तैल चित्रों को रेस्टोर किया जाना बुरा नहीं माना जाता। इसी प्रकार भारतीय प्राचीन जल रंग चित्र भी बिगड़ जायें तो उन्हें ठीक करवा लेना अनुचित बात नहीं है।

राजस्थान में इस कार्य के लिये श्री वेदपाल शर्मा 'बन्नू' प्रख्यात हैं। उन्होने ही सबसे पहले प्रतिकृतियां बनाना बीस वर्ष पूर्व चालू किया था। वेदपाल कलाकार परिवार से ही सम्बन्धित है। उनके पिता या प्रपिता तैल माध्यम से चित्र बनाते थे और उनके चित्रों के विषय स्वनिर्मित होते थे। श्री वेदपाल राजस्थान के प्रथम कुशल वरिष्ठ कलाकार हैं जिन्होंने रेस्टोरेशन में ख्याति प्राप्त की है। भारत के प्रसिद्ध संग्राहक उनसे अपने चित्रों का रेस्टोरेशन करवाते रहते हैं। उन्होंने चित्रो की शैलीगत विशेषताओं को गहनता से पकड़ा है जिससे ये बिगड़े हुये चित्रों को असली रूप दे पाते हैं। श्री वेदपाल की ख्याति विदेशों तक पहुंच चुकी है

और बड़े-बड़े कला संग्राहक उनकी इस कार्य कुशलता की प्रशंसा करते हैं। सैकिन्ड पैराडाइज पुस्तक में कला मर्मज्ञ श्री एस. सी. वैल्च ने वेदपाल की कला कुशलता के विषय में खूब लिखा है। उन्हें राष्ट्रपति पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। श्री वेदपाल ने अनेक छात्र छात्रायें तैयार किये हैं। उनके शिष्यों में सर्वश्री रमेश, इरशाद, उसमान, अरविन्द सक्सेना मुख्य हैं जो उन्हीं के पद चिन्हों पर कार्य करते हैं। बूंदी और किशनगढ़ शैली के चित्रों को तद्वत् सही रूप में प्रस्तुत करने में रमा शर्मा, उषा जैन, मधु जैन छात्राओं ने श्री वेदपाल के पास प्रतिकृतियों का काम सीखा है।

श्री इरशाद का कार्य भी प्रशंसनीय है जो रेस्टोरेशन के कार्य में निपुण हैं। इनके परिवार मे चित्रकला का काम कोई नहीं करता था।

श्री रमेश-सुरेश पुरानी पुस्तको के बेकार वर्कों पर ईरानी चित्र बनाते हैं जिनके विषय छपी हुई पुस्तको से लिये जाते हैं। इनके यहां एक चित्र को कई लोग बनाते हैं। टिपाई, घरावट, खुलाई, हाशिया चार काम चार कलाकारों के हाथों से निकलता है जो अलग-अलग कार्य में निपुण होते हैं। श्री उस्मान चिड़िया, शेर, जानवर, शिकार के दृश्य बनाने में सिद्धहस्त हैं।

श्री सुमहेन्द्र (कला प्राचार्य राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट्स) का काम भी इस क्षेत्र मे लिया जाता है। सुमहेन्द्र रेस्टोरेशन और प्रतिकृति दोनों ही प्रकार का काम करते हैं। उन्होंने बीकानेर और किशनगढ़ शैली की अनुकृतियों के काम में कुशलता प्राप्त की है। इन्होंने पारम्परिक और आधुनिक का सुन्दर समन्वय किया है। वे राष्ट्रीय ललित कला अकादमी एवं स्थानीय अकादमी दोनों से पुरस्कृत हैं। श्री चन्दूलाल ईरानी चित्र बहुत सुन्दर बनाते हैं। कलाकारों के अतिरिक्त ऐसे भी लोग इस क्षेत्र मे हैं जो स्वयं बनाना नहीं जानते पर अध्ययन से लाभ के कारण कलाकारों को नियुक्त कर प्रतिकृतियां बनवाते हैं।

श्री श्रवणकुमार जैन को श्री वेदपाल के संसर्ग से चित्रों की प्रतिकृतियां करवाने का प्रोत्साहन मिला। अब उनके पास अनेक कलाकार काम करते हैं जिन्होंने बहुत सुन्दर राजस्थानी उपशैलियों के चित्रों की प्रतिकृतियां की हैं। श्री श्रवण कुमार ने नये छात्र-छात्राओं को भी इस क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया है जो ट्रेस कर रंगों की घरावट करने का काम सरलता से कर लेते हैं तत्पश्चात् धीरे-धीरे वे कुशल कलाकारो के नीचे काम करते और देखते खुलाई का काम भी करने लग जाते हैं। उनके यहां काम करने वाले कलाकारों के नाम हैं सर्वश्री धर्मपाल, शिशिर



भट्ट, अरुण कुमार ठोलिया, जयनारायण, विजयेन्द्र कुमार, इन्द्रजीतसिंह, लक्ष्मीनारायण, सूरजमल, अनिल कुमार, अमित कुमार, दीप प्रकाश, कैलाश आदि। इन कलाकारों ने जयपुर शैली के सुन्दर चित्र बनाये हैं जिन्हें पहचानना भी कठिन है कि वे नये हैं या पुराने। श्री सच्चिदानन्द शर्मा का नाम भी उल्लेखनीय है जो स्वयं कलाकार नहीं है परन्तु कलाकारों को अपनी कार्यशाला में रखकर उन्होंने मुगल, राजस्थानी सभी प्रकार के चित्रों की उत्तम प्रतिकृतियां बनवा कर क्षेत्र में मानदण्ड स्थापित किया है। उनके यहां घनश्याम निम्बार्क, मोहनलाल, अन्नाराम बागवान, राजपाल अच्छा कार्य किया है।

श्री संग्रामसिंह, नवलगढ के पास उनके स्वयं का बड़ा चित्र संग्रह है और वे प्रसिद्ध कला पारखी एवं मर्मज्ञ हैं। उन्होने भी कलाकारो को नियुक्त कर प्रतिकृतियां करवाने का कार्य किया है जो अत्यन्त कौशलपूर्ण है। कोटा बूंदी व मेवाड के सुन्दर सबसे बड़े आकार के चित्र उन्होंने बनवाये हैं। प्रतिकृतियों के लिये बड़े आकार के पुराने कागजों की उपलब्धि एक समस्या होती है पर श्री संग्राम सिंह ने इस कमी को पूरा किया है। उनके "संग्राम कला सगम" में जो कलाकार कार्य कर रहे हैं उनके नाम हैं सर्वश्री जयसिंह परिहार, जसन्तसिंह, बाबू लाल कुमावत जो चेहरे बनाते हैं। गोविन्द, मालीराम बहरवाल भी चेहरे बनाते हैं। श्री मेघवाल और सुरेन्द्रसिंह घरावट और खुलाई दोनों काम करते हैं। श्यामलाल, राजेन्द्र पण्डित घरावट करते है। इनके अतिरिक्त किशोरीलाल शर्मा, मालीराम मरडा, राकेश कौर, वीरेन्द्रसिंह चौहान और पप्पू निर्मल सीखने वाले छात्र हैं। घनश्याम निम्बार्क, मोहन सोनी, भंवरसिंह के नाम उल्लेखनीय है। मोहन सोनी को राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त हो चुका है तथा विदेशों में अपने कार्य का प्रदर्शन कर चुके हैं। घनश्याम निम्बार्क का कार्य अत्यन्त सराहनीय कहा जा सकता है।

कोटा में श्री कैलाश और लुकमान कोटा बूंदी शैली के अच्छे चित्र बनाते हैं जोधपुर में पप्पू शर्मा, खुर्शीद, रमेश सोलंकी कागज की बसली पर चित्र बनाने के लिये जाने जाते हैं।

उदयपुर में सर्वश्री घनश्याम, ललित, नन्दू, लक्ष्मीनारायण, मदन शर्मा कन्हैयालाल सोनी, बी. जी. शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री बी. जी. शर्मा ने विदेशों में भी अपनी कृतियों की प्रदर्शनियां आयोजित की हैं तथा उनका कार्य प्रशंसित किया गया है।

प्रतिकृतियों का काम प्रगति से हो रहा है। प्राचीन के अक्षरशः अनुकृति बनने पर ही विदेशी लोग उन्हें पसन्द करते हैं। जो लोग इस क्षेत्र से अपरिचित हैं

वे सोचते हैं प्रतिकृतियों को प्राचीन के दामों पर बेच कर कलाकार उन्हें धोखा देते हैं परन्तु यह सोचना गलत है। जब विदेशों में लाखों-करोड़ों के मूल्य पर चित्र बिकते हैं तो यहां के कलाकार यदि सैकड़ों की दर से ही बेचते हैं तो क्या बुरा करते हैं ? फिर यह पसन्द का भी प्रश्न है जब कला प्रशंसक स्वयं नई कृति को असली के ही रूप में चाहता है तो इसमें दोष किसका ? इस उद्योग से कलाकारों को रोजगार मिला है। □

मन्दिर संस्कृति–पिछवाई

शताब्दी के इस दशक में पारम्परिक चित्रकला के क्षेत्र में कितनी ही अभूतपूर्व नवीन विधायें सामने आई हैं।

कपड़े के चित्रों की उत्पत्ति हुई है पिछवाई से। पिछवाई वैष्णव मन्दिरों में ठाकुरजी के पीछे देव मन्दिरों में लगाई जाती थी जिनके विषय थे—दान लीला, भोग, रास, गोचारण, गोवर्धन, फाग इत्यादि। इन पिछवाइयों की कला की दृष्टि से दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व कोई महत्ता नहीं थी पर विदेशियों के हाथों अच्छे दामों पर पिछवाई बिक जाने से कला विक्रेताओं के मस्तिष्क में नई पिछवाई बनवाने की सूझ-बूझ पैदा हुई और वे कपड़े पर भारी मात्रा में बनवाई जाने लगी। प्रारम्भ में कपड़े पर उपरोक्त विषयों के ही चित्र कपड़े पर बनाये जाने लगे विशेषकर नाथद्वारा में। तदनन्तर यह कार्य जयपुर में प्रारम्भ हुआ। पिछवाई का उत्पत्ति स्थान नाथद्वारा ही था। वहां पिछवाई श्री नाथजी के प्रतिमा के पीछे दृश्य उत्पन्न करने हेतु लगाई जाती थी। परन्तु कालान्तर में प्राचीन चित्रों में पाये जाने वाले विषय भी कपड़े पर बनाये जाने लगे जैसे राग-रागनियां, बारहमास, दरबार, शिकार, नायक-नायिकाओं की विभिन्न चेष्टायें, शृंगारिक इत्यादि। पिछवाई वे ही कहलाती हैं जो झांकियों के विषय से ही संबंधित होती हैं। सब ही कपड़े पर बने चित्र पिछवाई की परिगणना में नहीं आते। इन चित्रों के आकार सामान्यत: बड़े होते हैं जिन्हें होटलों, हवाईजहाज के लाउन्ज, रेस्टरां या बड़े कार्यालयो में सजाने के काम में लिया जाता है। फ्रांस, इटली, इंग्लैण्ड, जर्मनी, अमेरिका सभी देशो में ऐसे चित्रों की इन्टीरियर डेकोरेशन की आवश्यकता के कारण मांग बढ़ने लगी। यह काम जयपुर, अजमेर, किशनगढ़, नाथद्वारा, उदयपुर, कोटा, बूंदी, जोधपुर सब ही जगह किया जाने लगा। कई लोगों ने इसे निर्यात का विषय बना लिया और चित्रकारों को नियुक्त कर चित्र बनवाने लगे। एक निपुण कलाकार किसी भी विषय की ड्राइंग फ्री हैण्ड कर लेता है तो आगे उसकी प्रतिकृति के करने का काम सिर्फ सीखने

के स्तर तक रह जाता है। ट्रेस करना, रंग भरना या घरावट सरल काम हैं। अन्त में खुलावट या फिनिशिंग पुनः निपुण कलाकार या उस्ताद कर लेता है। सारी कुशलता लगभग की हैण्ड ड्राइंग पर निर्भर करती है। विशेष, शैली के लक्षण भी चित्र में आने आवश्यक हैं। जितना अच्छा ड्राइंग होगा उतना ही अच्छा चित्र तैयार होगा। कपडे पर दो प्रकार के रंग लगाये जाते हैं। कपड़े को पोटाशियम परमेगनेट के पानी में डुबो कर निकाल लिया जाता है तदुपरान्त सुखा कर पतले रंग लगाये जाते हैं ताकि चित्र को तह करने या लपेटने में रंग नहीं उखड़ते। दूसरा तरीका होता है कपड़े को फर्श या सनमाइका के बोर्ड पर पतली लेही पोत कर सुखा लिया जाता है। चित्र सम्पूर्ण हो जाने पर एक कोना पकड़ कर उसे उखाड़ लिया जाता है या फ्रेम में कस कर बनाया जाय तो फ्रेम से काट लिया जाता है।

जयपुर कलाकारों का केन्द्र, स्थल रहा है, इसलिए चित्रों का काम यहां विशेष रूप से हो रहा है। यह भी कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि जो काम कपड़े पर कलाकारों ने वर्तमान में किया है वह जहांगीर कालीन अच्छे से अच्छे कपडे के चित्र की समानता में रखा जा सकता है। कलाकारों के लिए उपरोक्त काम की मांग के कारण स्वरोजगार के साधन सम्पन्न हो चुके है। स्कूलों के छात्र-छात्रायें या सामान्य घरों के बच्चे-बच्ची सब ही इस काम को करना सीख गये हैं क्योंकि उत्पादन खर्च इसमें बहुत कम लगता है, जो कुछ मूल्य होता है वह मेहनत का। इन कारीगरों की आमदनी औसतन दो हजार रुपया तो पड ही जाती है। जो लोग स्वयं चित्र बनाना नही जानते पर जिन्हे प्राचीन चित्रों की परख है वे कलाकारों को नियुक्त कर अपनी देखरेख में काम करवाते है। इन कलाकारों का वेतन काफी बड़ा होता है। वे एक जगह से हटा दिये जाते है तो दूसरी जगह काम करना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार उनका काम निरन्तर चलता रहता है। यह बात अवश्य है कि इस काम को करने या करवाने वाले लोगों की संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि मांग से अधिक उत्पादन होने लगा है और मूल्य गिर गये हैं। जिस प्रकार पाबूजी की फड़ें बीस वर्ष पूर्व सजावट के लिए बहुत अलभ्य समझी जाती थीं परन्तु शाहपुरा, भीलवाड़ा, जोधपुर के कारीगरो द्वारा हस्तकला प्रशिक्षण केन्द्र, जयपुर के कारीगरो द्वारा भारी मात्रा मे इन्हे बनाये जाने के कारण उनकी महत्ता समाप्त हो गयी। इसी प्रकार कपड़े पर बने इन चित्रों की भी यही दशा होने जा रही है।

राजस्थानी, कांगडा व मुगल शैलियों के अतिरिक्त ईरानी. चीनी, जापानी, मिस्री शैली के भी चित्र बहुत बनाये गये हैं। आजकल प्राचीन चित्रों से सम्बन्धित सचित्र विदेशी प्रकाशित पुस्तकें बहुत विविधता में मिलती हैं अतएव कलाकार उनकी सहायता से कपड़े पर अनुकृतियां कर लेते हैं या उनके माध्यम से विषयो

में हेरफेर कर नई चीज तैयार कर लते हैं। कपड़े के चित्र अब घटिया समझे जाने लगे हैं तथा चित्रों को अधिक समृद्धि प्रदान करने हेतु खादी सिल्क का खूब उपयोग किया जाने लगा है। खादी सिल्क पहले कुर्ते बनाने के ही काम आती थी अब उसका प्रयोग चित्रों मे होने के कारण माग बढ़ गयी है साथ ही मूल्य भी बढ़ गया है। चित्र बनाने के लिए पोस्टर रंग, देशी रग या गिलहरी के बाल के देशी बने ब्रुश या कम्पनी के बने मोटे पतले ब्रुश काम आते हैं।

राजस्थान हैण्डीक्राफ्ट्स एम्पोरियम या सैन्ट्रल काटेज एम्पोरियम का सीधा सम्बन्ध है इन चित्रों को खरीदने का परन्तु टेण्डर पद्धति के कारण अच्छी कारीगरी के चित्र वहां उपलब्ध नही हो सकते।

जयपुर में इस समय इतने कलाकार इस कार्य को स्वयं कर रहे हैं या दूसरो के लिए कर रहे हैं कि उनके नाम गिनवाना कठिन है पर विशिष्ट कलाकारो के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री सच्चिदानन्द शर्मा के यहां कलाकारों का एक दल काम करता है जो बहुत ही प्रशंसनीय है। इनमे नरुका परिवार के सावन्त सिंह, जयसिंह, मदनसिंह विशेष हैं तथा अशोक सोनी, श्याम सुन्दर, राजपाल के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन कलाकारों ने बहुत बडे आकार के राजाओं व बादशाहो के यथावत् आकृति चित्र बनाये हैं जो अभी तक नहीं बने थे। श्याम, श्रवण, भंवर तथा निहाल मुगल राजस्थानी ईरानी सब ही शैलियों में चित्र बनाते हैं। श्री उस्मान चिड़ियों और फूलों के सुन्दर चित्र मुगल पद्धति पर बनाने मे सिद्धहस्त है।

श्री जगदीश का नाम विशेष अग्रणी है। उनकी देख-रेख में बहुत से कलाकार काम कर रहे हैं। सर्वश्री तुलसीदास वैष्णव, किशनसिंह, सूरजमल, जय हनुमान, कैलाश, विष्णु, किशोर कुमार, गोविन्द, श्रवण कुमार सैनी, नाथूलाल, ओम सैनी, कालूराम, शहजाद, शाकिर ने भी सभी प्रकार के चित्र बनाये हैं। इनमें कुछ कलाकार ऐसे हैं जो खुलाई का ही काम करते हैं, कुछ ऐसे हैं जो फूल, चिड़िया व जानवर बनाने मे निपुर्ण हैं।

चन्दूलाल चौहान ईरानी चित्र बहुत अच्छा बनाते हैं। स्वर्गीय श्री लालचन्द बीस वर्ष पूर्व अच्छा काम करते थे। सबसे पहले श्री लालचन्द ने कपड़े पर किशनगढ शैली मे चित्र बनाना प्रारम्भ किया था यह उल्लेखनीय है।

श्री वीरेन्द्र ने बाबरनामा के चित्र बनाये हैं। राधे अनाड़ी ने भी प्रशंसनीय कार्य किया है।

वरिष्ठ कलाकारों में श्री द्वारकाप्रसाद एवं कृपालसिंह शेखावत का भी नाम लिया जा सकता है पर वे निरन्तर कपड़े के चित्र नहीं बनाते थे। प्रयोग हेतु उन्होंने सराहनीय कार्य किया है।

श्री शांति जैन, उमेश शर्मा, विजय लूणिया, महेन्द्र, नन्नूसिंह, इमामुद्दीन, कल्लू, रहमान, श्री रामस्वरूप विजयवर्गीय, शंकर विजयवर्गीय कला प्रशंसक या विक्रेता हैं जो अपनी देख-रेख में कलाकारों से विविध प्रकार के विषय और शैलियां चुनते हैं और कार्य करवाते हैं।

अमृत जैन, महेन्द्र जैन, विलियम, डेविड, चन्द्र प्रकाश, बाबूलाल, श्री शांति जैन के यहा कार्य करते है।

महिलाओं और छात्राओं में प्रमोद, आशा, उषा, रेणु गोधा रजनी, ममता, चन्द्रा शर्मा, लोरना रोज, मिन्यिया, सन्तोष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने तांत्रिक मण्डल, अढाई द्वीप, लोकनार अष्ट चक्र, फूल, चिड़ियां, जानवर बहुतायत से बनाये हैं। शशि शाह का नाम विशिष्ट है जिन्होंने जयपुर शैली की नृत्य मण्डली के अतीव प्रभावोत्पादक चित्र बनाये। उन्होंने जापानी कलाकार ऊतामारो के चित्रों की सिल्क पर बहुत अच्छी अनुकृतिया की है जो इटली और फ्रांस मे विक्रेताओं और प्रशंसकों संग्रह में विद्यमान हैं। जोधपुर में वरिष्ठ और निपुण कलाकारों में भंवरलाल का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि भग्गू शर्मा, रामचन्द्र, खुर्शीद, रमेश सोलंकी, दिलीप परिहार, कैलाश, लालजी का नाम भी वर्णनीय है। जोधपुर के कलाकारो ने काले व लाल कपडे पर सुनहरी व रूपहरी कार्यों की छपाई से बहुत सुन्दर पिछवाइयां पुरानी के अनुरूप ही बनाई हैं। उनके काम में प्राचीन जोधपुर शैली की छाप स्पष्टतया झलकती है।

नाथद्वारा के सर्वश्री कन्हैयालाल घनश्याम, नवरत्न, तुलसीराम, मोहन, मुरली, रेवा शंकर, चरण शर्मा के नाम विशिष्ट हैं।

किशनगढ में वैष्णवदास वहा के वरिष्ठ और ख्याति प्राप्त कलाकारो मे से हैं और अजमेर, ब्यावर, पाली, पाणेराव, नसीराबाद, साम्भर, पिसांगन तथा आसपास के इलाकों मे जितने कलाकार काम कर रहे हैं लगभग सभी वैष्णवदास मे सीख कर निकले हैं और अपने-अपने स्थान पर कार्य कर रहे हैं। किशनगढ में शिवजीराम राधाकृष्ण के चित्र और ईरानी चित्र बनाते हैं। रामकिशन नाथद्वारा शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। शंकरसिंह, चतरसिंह, अनिल व्यास, कन्हैयालाल भारद्वाज, शहजाद, सत्यप्रकाश, घनश्याम, हरबन्स, कन्हैयालाल वर्मा मुगल शैली के काम

करने हैं। किशनगढ़ के कलाकारों ने प्राचीन किशनगढ़ शैली को ही अपना माध्यम बनाकर उसमें विषय अपनी ओर से प्रयुक्त कर लिये हैं।

अजमेर में सर्वश्री गरणपत पाठक, बुधसिंह, प्रभुलाल, देवेन्द्र बापना, अशोक चौहान, बलराम, मनोहरलाल, मोहनलाल सभी तरह का काम मिला-जुला करते हैं।

कपड़े पर चित्र बनाने का काम बहुत ही श्रम साध्य और तकनीकी दृष्टि से कठिन समझा जाता था परन्तु उत्पादन में लागत कम लगने से लोग इस काम में प्रविष्ट हो गये और घटिया चीजें भी बनने लगीं। छोटे गांवों में भी यह काम प्रचलित हो गया है जिससे लोगों को रोजी-रोटी का साधन परिर्याप्त हो जाता है। खरीददार के लिए घटिया और बढ़िया के आधार पर मूल्यांकन कठिन हो गया है। धीरे-धीरे कपड़े के चित्रों का उत्पादन कम होता जा रहा है और कागज पर प्रतिलिपियों का काम अधिक होने लगा है।

□

सस्कृति का पन्थ—कला और हस्तिदन्त

प्राचीन चित्रो की प्रतिकृतियो, कपड़े या सिल्क पर बने चित्रो के अतिरिक्त हाथी दांत की पटरियो पर भी राजस्थान में चित्र बनने लगे है जिनकी विदेशों में भारी मांग आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई थी। हाथी दान की पटरी पर मुगल काल में व्यक्ति चित्र बादशाहो या बेगमो के बनते थे। विशेषकर यह काम कम्पनी काल मे अधिक चला। लखनऊ, पटना, दिल्ली के कारीगर दांत पर चित्र बनाने के काम मे बड़े निपुण थे शायद इसलिये कि अंग्रेजो को इसमे विशेष रुचि उस जमाने में भी रही होगी। यूरोप मे इस प्रकार का काम नही होता था इसलिए ऐसे उत्कृष्ट बारीक काम को देखकर वे लोग अत्यन्त प्रभावित हुए होगे। कम्पनी युग में मुगलों के जमाने में बनी हुई इमारतों और स्मारको के भी बहुत चित्र बने जैसे मोती मस्जिद, लाल किला, हुमायूं का मकबरा इत्यादि। इसके अतिरिक्त राजाओ के गुणीजन खाने की गायिकाओं के भी चित्र कलाकार अवकाश में बनाते रहते थे। ऐसे उदाहरण महाराज शिवदान सिंह अलवर के मिलते हैं। शिवदान सिंह कम्पनी काल मे अलवर के राजा थे और लगभग दो सौ तवायफें इन्होने अपने गुणीजन खाने मे नियुक्त कर रखी थी। पहली बार इन तवायफों के हाथी दात की पटरी पर बने ऐसे चित्र लेखक ने जयपुर सग्रहालय में एक प्रदर्शनी आयोजित कर उसमे प्रदर्शित किया। उसका ऐसा भारी प्रभाव पड़ा कि जयपुर के कला विशेषज्ञों और व्यवसाय कर्ताओं ने इस ओर ध्यान दिया कि यदि राजस्थानी प्राचीन चित्रों के विषयो को दात की पटरियो पर बनाकर एक नवीन मार्ग खोला जाय तो संभवत: उद्योग में वृद्धि हो। पटरियों पर गायिकाओं के चित्र उनकी विभिन्न शृंगारिक मुद्राओ मे प्रस्तुत किये गये थे जैसे बिल्ली को प्यार करती नायिका, झीने वस्त्र मे आवेष्टित हुक्का पीती अंग्रेजी सजावट वाले कमरे मे लेटी नायिका, पंखा झलती, जरी व रूपहरी काम के लिबास मे नायिका। यह हाथी दात के पटरी के चित्र प्रदर्शनी मे दर्शको द्वारा बहुत प्रशंसित किये गये थे। विशेष रूप से कला-प्रशसको द्वारा क्योंकि यह नवीन विषय थे जो उन्होने पहले कभी देखे नही थे।

इन्हीं चित्रो से प्रेरित होकर हस्त कला व्यवसाइयो ने हाथी दांत की पटरी पर वे विषय बनवाने प्रारम्भ किये जो सामान्यत: वसली पर बने थे जैसे नायिका

भेद, बारहमास, राग-रागनियाँ, नायिकाओं की विभिन्न मुद्रायें, व्यक्ति चित्र, अंग्रेजी विषयक चित्र, सोती हुई वीनस ईसा मसीह का जन्म, बहादुरशाह जफर का दरबार, अकबर द्वितीय का दरबार, बेगमें, बादशाह, जापानी या चीनी नायिकाओं की श्रृंगारिक मुद्राएँ, काम शास्त्र सम्बन्धी विभिन्न मुद्राएँ विदेशियों के लिए मोहक बन गयी।

हाथी दांत जो कभी दो सौ रुपये किलो बिकता था पटरियां कटवाये जाने और बनने के कारण पन्द्रह सौ रुपये किलो बिकने लगा। यहां तक कि मशीन से तराशी हुई पटरियाँ साढ़े तीन हजार रुपये किलो तक इस समय बिक रहा हैं। विदेश में निर्यात पर प्रतिबन्ध हो जाने के कारण दांत के काम में अवश्य कमी आई है। दांत का भाव कम रह गया है। परन्तु पटरियो के भाव में कमी नहीं आ पाई है क्योंकि पटरी मोटे डाइमीटर के बिना फटे हुए दांत से ही कट सकती है। हाथी जो नमक खाता है उसका दांत फट जाता है और उसकी पटरियाँ भी अच्छी नहीं निकल पाती हैं। पटरियाँ 4′ 6′ एवं 6′ 10′ तक लम्बी-चौड़ी होती हैं। पटरी जितनी साफ और लम्बाई चौड़ाई मे अधिक होती है उतने ही उसके दाम अधिक होते हैं। छोटी पटरी के दाम कम होते हैं। पटरी आयातकार, वैजई, वर्गाकार सब ही प्रकार की होती है। राजस्थान में पटरी के चित्र बनाने का काम नाथद्वारा, उदयपुर, जयपुर में विशेष रूप से होता है। जो कलाकार वसली पर चित्र बना सकता है वही दांत की पटरी पर भी बना सकता है परन्तु अन्तर इतना है कि दांत की पटरी पर काम अधिक बारीकी से होता है। परदाज का काम उसमे बहुत खूबी के साथ किया जाता है जिसमे अच्छी निगाह की आवश्यकता है।

पटरी चिकनी होती है इसलिये उस पर सीधा रंग नही ठहरता। समन्दर के झाग से पटरी को पहले घिसकर चिकनाई मिटा दी जाती है तब विषय-वस्तु की टिपाई कर काम प्रारम्भ किया जाता है। रगों में अरीठे का पानी मिला कर लगाने से दांत की चिकनी परत पर रंग ठहर जाते हैं अन्यथा साधारण तरीके से रंग पटरी की सतह पर ठहर नही पाते। फोटोग्राफी के रग पतले होते हैं इसलिए वे भी काम आते हैं वैसे सामान्यतः पोस्टर रंग तो काम आते ही हैं। पटरी के काम के लिये मोटे ब्रुशों की अधिक आवश्यकता नही पडती। गिलहरी के बालों की ब्रुश अधिक उपयोगी होती है। मेवाड़ के कलाकारों की बनाने की पद्धति मे उनकी अपनी शैली की छाप रहती है जबकि जयपुर वालो में अपनी शैली की जो विशेषता: तुरन्त पहचाना जा सकती है। हाथी दांत की पटरियो पर चित्र बहुतायत से बनने के कारण लघु चित्रो के बहुत से विषय बहुत ही प्रसिद्ध हो चुके हैं। जो चित्र विदेशियों के हाथो बिकते हैं उनकी विषयवस्तु से प्रतीत होता है कि

शृंगारिक विषय अधिक पसन्द किये जाते हैं। पटरी पर चित्र बनाने की दर 40) रुपया प्रति फीगर से 200) रुपया प्रति फीगर तक काम की उत्कृष्टता पर निर्भर करती है। जो उच्च श्रेणी के कलाकार होते हैं अधिक दर पर चित्र बनाते हैं। दात की पटरी पर उच्च कोटि का काम करने वालों में सर्वश्री वेदपाल शर्मा (बन्नू), शिवशंकर सक्सेना, इरशाद, प्रदीप, राधेश्याम अनाड़ी, नरेन्द्र कुमार, अरुण कुमार शर्मा, अक्षय कुमार शर्मा के नाम प्रमुख हैं।

सोनी परिवार के बहुत से लोग यह काम करते हैं जिनके नाम हैं—चन्द्र प्रकाश सोनी, सुभाष सोनी, रमेश सोनी, गणेश सोनी, शंकर सोनी, अरविन्द कुमार अरुण कुमार। परन्तु इनका काम साधारण प्रकार का है। सर्वश्री घनश्याम शर्मा, बजरंग लाल शर्मा, कैलाश, बाबूलाल शिकारी, राजेश, रमेश, सुरेश, फूलजी, प्रेम, गोपाल, महेश, रामकिशन शर्मा, मुन्ना, अशोक सोंखिया, चन्द्रलाल, प्रदीप, अर्जुन सिंह के नाम भी उल्लेखनीय हैं जिन्होने बहुत कम आयु मे ही कुशलता प्राप्त करली है। आज से कुछ वर्ष पहले दांत की पटरी पर बने चित्रों का कोई महत्व नहीं था और उन्हें बिल्कुल निकृष्ट कोटि समझा जाता था पर आज पटरी पर बने चित्र का मूल्य पचास रुपये से पांच हजार रुपये तक हो सकता है।

पटरी पर बने चित्र पर दांत का ही फ्रेम हो तो उसके सौन्दर्य में चार चांद लग जाते हैं और दूसरा लाभ यह भी है कि पटरी टेढ़ी-मेढ़ी नहीं होती। दांत की पटरी पर बने चित्रों की भी यही विशेषता है कि यदि चित्र शत-प्रतिशत किसी प्राचीन चित्र की अनुकृति के हैं तो श्रेष्ठ अन्यथा कलाकार अपनी कल्पना से कुछ भी पृथक् से जोड दे तो उसकी महत्ता गौण हो जाती है। चित्र में आकृतियां, वेश-भूषा, अग्रभूमि, पृष्ठभूमि, वृक्ष, पानी, चट्टान, स्थापत्य सब ही कुछ जितना पुराने के अनुरूप होगा, उतना ही अच्छा समझा जायेगा।

ईरानी, मुगल, राजस्थानी, कांगड़ा सभी शैलियो में दांत की पटरी पर चित्र बनाये जाते है। पुराने समय में कांगड़ा, ईरानी आदि शैलियो मे पटरी पर चित्र नहीं उपलब्ध होते थे परन्तु अब आवश्यकता और मांग के कारण कलाकारों ने इस कमी को पूरा कर दिया है। दिल्ली, बम्बई, मद्रास, बैंगलोर के व्यवसायकर्ता पटरी के चित्र राजस्थान से खरीदते हैं।

दो पटरियों को जोड़कर बड़े आकार की भी बनाई जाती है उनके हाशिये में भी जाली की कटाई का बारीक काम किया जाता है तथा चित्र में आभूषणों में जवाहरात की जड़ाई की जाती है। ऐसे जड़ाई के चित्र काफी मूल्यवान होते हैं। पांच हजार से बीस हजार तक के होते हैं। ऐसा काम जयपुर के सर्वश्री रमेश,

सुरेश अधिक कुशलता से करते हैं। हाथी दांत में हाथी, घोड़े कई प्रकार के पशु-पक्षी, शतरंज, सिगरेट केस, नृत्य मुद्राओं में नाना प्रकार की पुतलियाँ, देवी-देवता आदि प्राचीन शैली में उत्कीर्ण कर बनाये जाते है। उन पर रग रोगन, सोने की छपाई भी प्राचीन पद्धति पर ही की जाती है। आज से तीस वर्ष पूर्व ऐसा सुन्दर कार्य दाँत में नही होता था पर जयपुर के कारीगरो ने ही इसमे प्राथमिकता दी। श्री गोवर्धन इस काम मे बहुत प्रवीण थे। उन्होने कितनी नृत्यांगनायें सुन्दर के सुन्दर तैयार की। इसके पश्चात् श्री फकीर चन्द और लाल चन्द ने भी इस कार्य में उत्कृष्ट वस्तुयें तैयार की जिनमें कई प्रकार की हाथियों की लड़ाइयाँ, घुड़सवार, नाना आकृतियों की शतरजें सम्मिलित हैं। हाथी दांत के कार्य के लिए पक्के लोहे की नहणियां या सलाखें, करोती आदि ही काम मे ली जाती हैं। अब तो मोटर मशीन भी मोटे काम के लिए काम में ली जाती है। बारीक काम हाथ से औजारों से ही किया जाता है। हाथी दांत मे जिस उत्कृष्ट शैली मे प्राचीन के अनुरूप कारीगरो ने काम स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राजस्थान में किया है वैसा शायद मुगल काल में भी नही हुआ था। तिब्बती, नेपाली शैली के बुद्ध, तारा, प्रज्ञापारमिता आदि देवी-देवता भी कारीगरो ने अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक तैयार किये है जो वड़े-वड़े संग्राहको के संग्रह में शोभित है। जो कला तीन सौ वर्ष पूर्व देश मे प्रचलित थी उस ही को कारीगरों ने पुनर्जीवित कर कला क्षेत्र मे एक अध्याय जोड़ा है।

□

संस्कृति कुसुम जहां फूला फला—हस्तकला

राजस्थान ही एकमात्र प्रादेश है जहां हस्तकला की विविध वस्तुयें तैयार की जाती हैं। यहा कपड़े की बुनाई, छपाई, सगमरमर व अन्य पत्थरो की प्रतिमायें, जवाहरात की कटाई, मीनाकारी, चांदी के आभूषण व अन्य सामग्री वन्धेज, हाथी दांत व चन्दन की कुराई, लकड़ी की कारीगरी, गलीचा बुनाई, पीतल व धातु की कारीगरी मिट्टी व चीनी मिट्टी के बर्तन, लाख का काम, चमड़े की जूतिया व अन्य सामान, चित्रकला आदि सब ही प्रकार की हस्त कलाओ का सर्वाधिक सराहनीय कार्य होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तो लघु उद्योग निगम व अन्य व्यक्तिगत व्यापारिक सस्थानो द्वारा हस्तोद्योगो की वस्तुओ का भारी मात्रा में निर्यात होने लगा है। विदेशी राजस्थान की कलाओं के अत्यन्त प्रशंसक हैं। उन्होने यहां की कलाओं पर गहन अध्ययन और शोध काय किये हैं जो पुस्तको के माध्यम से प्रकाश में आ चुके है।

कपड़ा बुनाई रंगाई व छपाई

बुनकरों द्वारा रेजा सब ही जगह तैयार किया जाता था परन्तु उत्कृष्ट कपड़े में सूत और सिल्क के ताने-बाने का कैथून, मांगरोल (कोटा) का मसूरिया, मथानिया (जोधपुर) की मलमल, बीकानेर जैसलमेर का ऊन—अंगरखा, पंजामा, पगडी, पेचा, सेला, साफा, पटका, घाघरा, ओढनी व कुर्ती कांचली आदि विविध मूल्यवान परिधान बनाने के काम आते थे।

राजस्थान की पीली मरुभूमि और पीले प्रखर प्रकाश की समरसता के प्रतिरोध में रंग-बिरगी वेशभूषा यहा की विशेषता रही है। कपड़ों की रंगाई का काम नीलगरों अथवा रंगरेजो द्वारा किया जाता है। भूरे, कत्थई, नीले और हरे रंग पक्के समझे जाते हैं। ऐसे रग विधवा स्त्रियों द्वारा पहने जाते हैं। आसमानी, गुलाबी, लाल, पीले, केशरिया, रग सधवा स्त्रियां पहनती हैं। रंगों द्वारा पुराने जमाने मे जातियों की पहचान की जाती थी। यहां तक कि पहनावे से जातियो का पता चल जाता था।

अजमेर मेरवाडा की गूजर स्त्रिया गाढे की लाल ओढनी व फड़द के नीले-काले मिश्रित रग के घाघरे पहनती हैं। मीणो मे भी लगभग ऐसा ही प्रचलन है परन्तु वे ऊन का घाघरा नही पहनती। विश्नोई स्त्रिया ऊन का पट्टीदार घाघरा पहनती हैं और उस पर ऊन के झुमकेदार नाड़ा लपेटती हैं। उनकी सम्पूर्ण ओढनी व काचली कसीदे से सुशोभित होती हैं जिनमे काच भी जड़े होते हैं। मारवाड़ मे हल्के रग पहने जाते हैं। उन पर गोटा किनारी व सलमा का काम भी अधिक नही होता। मेवाड़ में लाल व हरा रग पसन्द किया जाता है। आकोला की छपाई के घाघरे वहां ज्यादा चलते है। ढूंढाड मे गहरे रग पसन्द किये जाते हैं। राजस्थान का बन्धेज या मोठडा बहुत प्रसिद्ध है। शेखावाटी व मारवाड़ का बन्धेज बारीक और बढिया समभा जाता है। जयपुर में भी बन्धेज का काम खूब होता है। यहां का लहरिया और पोमचा प्रसिद्ध है। पोमचा जच्चा स्त्रियां पहनती हैं। पगड़ियां भी लहरिया और बन्धेज की, अनेक रंगो मे होती हैं। प्राचीन काल में तो पगड़ी के बन्धेज से व्यक्तित्व की पहचान हो जाती थी। जितना श्रेष्ठ और उच्च कोटि का व्यक्ति होता था उसकी पगडी उतनी ही बढ़िया होती थी। बन्धेज के लिये कपडे पर गैरू से इच्छित डिजाइन कर लिया जाता है। बाधने वाले हिस्से को अंगुली में लोहे का नेहला पहन कर डिजायन वाले भाग को उसकी नोक पर उभार लिया जाता है। उस भाग को राल-मिट्टी में भिगोये डोरे के लपेटों से बाध कर ऐसा कर लिया जाता है कि उस जगह अन्य रगे जाने वाले भागों का रग न पहुंच पाये। अलग-अलग रगों के प्रतिरोध के लिये जिस भाग को दूसरे भाग से बचाया जाता है उसमे राल मिश्रित मिट्टी लगादी जाती है। इच्छित रगो को सम्पूर्ण होने पर डोरे खोल दिये जाते हैं और डिजायन वाला भाग सफेद निकल जाता है। यही बन्धेज कहलाता है। श्री यासीन को राज स्तरीय पुरस्कार मिल चुका है।

राजस्थान के छीपो ने नाना प्रकार के बेल बूटो का, पक्के रगों मे छपाई का काम किया है जो विश्व विख्यात है। छपाई के लिये बालोतरा, बाडमेर, पाली, जैसलमेर, आकोला, चित्तौड़, आहाड़, सांगानेर, बगरू, कालाडेरा स्थान प्रसिद्ध हैं। छीपें गुजरात से राजस्थान मे तीन सौ वर्ष पूर्व आकर बस गये थे तब ही से राजस्थान मे छपाई का काम होता रहा है। चूनड़ी का राजस्थान की महिलाओं के जीवन में बडा महत्व होता है। उत्सवो, मेलों और त्यौहारों पर सधवा स्त्रियां चूनड़ी पहनती हैं। यहां तक कि सधवा स्त्री की मृत्यु पर भी उसे चूनड़ी ओढाते हैं।

पोमचा जच्चा द्वारा पहना जाता है जो पीले रंग का होता है। हाशिया और मध्य भाग लाल रंग का होता है। चित्तौड़ में आजम की छपाई होती है, तथा

गाडिया लोहारों के लिये घाघरे ओढनी भी तैयार होते हैं। जयपुर व उदयपुर मे लाल रग की ओढनियों पर गोंद मिश्रित मिट्टी की छपाई की जाती है तत्पश्चात् उसके ऊपर लकड़ी के छापे द्वारा सोने चांदी के तबक की छपाई की जाती है जिनमे सुन्दर बेलबूटे बने होते हैं। ऐसी सफाई खड्ढी की छपाई कहलाती है जो पक्की होती है, खड्ढी की छपाई आधुनिक समय में नही की जाती अब तो सीधे ही कपड़े पर तबक छाप दिये जाते हैं।

सीकर, झुंझुनू की स्त्रिया लाल गोटे की ओढनियो पर कशीदे का काम करती हैं जिनमें ऊंट, मोर, बैल, हाथी, घोड़े बने होते हैं। मेव स्त्रिया भी कशीदाकारी की ओढनियां और जम्पर पहनती हैं। शेखावाटी में नाना रंग के कपडो को विविध डिजायनो मे काट कर कपड़े पर सिलाई की जाती हैं जिसे पैंच वर्क कहते हैं। चदेवे, चादर, बन्दनवार इस काम में बनाई जाती है। गोटे का काम जयपुर व खंडेला मे होता है। जरी का काम सूरत से महाराजा सवाई जयसिंह के समय में जयपुर मे लाया गया था।

सांगानेर की छपाई के लिये स्थानीय सरस्वती नदी का पानी विशेष सहायक होता है जिसमें कपड़ा डुबोने से उसमे आब आ जाती है। गोबर, तिल्ली का तेल, बकरी की मेंगनी और सोडा के मिश्रण से घोल बनाया जाता है और कपड़े को उसमें रात भर डुबोया जाकर तत्पश्चात् सुखाया जाता है। धोये जाने के बाद पुनः हरड के घोल मे डुबोया जाता है। तदनन्तर लकडी के छापों से छपाई की जाती है। छपाई के लिये सीमित रंग काम मे आते हैं। काला रग लोहे के जंग और गुड़ को सडा कर बनाया जाता है। लाल रग गेरू, फिटकरी, तिल्ली का तेल और गोंद से बनता है। काला रंग रेखाओं के लिये और लाल रंग अलंकरण के बीच खाली स्थान के भरने के लिये काम मे लिया जाता है। पर्दे, चादरे, ओढनिया, रूमाल, साफे, रजाई के खोल सभी प्रकार की चीजें इस विधि से बनाई जाती हैं। बगरू मे दाबू का काम विशेष होता है जो गहरे हरे रंग पर किया जाता है। अनार के छिलके को पानी में उबाल कर हल्दी मिलाने मे हरा रंग बन जाता है। कपड छान की मिट्टी मे कली का टांटा मिलाने से दाब या रेजिस्ट बनती है जो डिजायन पर लगा दिया जाता है, उस स्थान पर जमीन का रग नही लगता। रेजिस्ट वाला भाग जमीन के रंग से पृथक् हो जाता है। सांगानेर में सिन्थेटिक रंगो का प्रयोग किया जाने लगा है उसके कारण काम की प्रतिष्ठा गिर चुकी है। बगरू का काम अधिक पसन्द किया जाने लगा है। लकड़ी के छापों के स्थान पर स्क्रीन प्रिन्टिग सांगानेर मे किया जाने लगा है। उसमें भी उत्कृष्टता में कमी आ चुकी है। बूंटो के कितने ही नाम होते हैं। सोमन, गुलाब, हजारा का बूटा, मटर का बूंटा,

लड्डू का बूंटा, धनिया, इलायची का बूंटा इत्यादि। बगरू में महादेव, लक्ष्मी नारायन, सत्यनारायन, हनुमान सहाय, धनो पियां प्रसिद्ध छीपे हैं।

जवाहरात की कटाई

जयपुर जवाहरात की कटाई के लिये प्रसिद्ध है। यह उद्योग बड़े पैमाने पर यहां चलता है। मुसलमान घराने के लोग इस काम को अधिक करते थे परन्तु विदेशी माग के कारण हिन्दू लोग भी इस काम मे लग गये हैं। ओसवाल और जैन समुदाय के लोग इस उद्योग के कारण धनाढ्य समझे जाते हैं। हीरा, माणक, पुखराज, पन्ना सब ही प्रकार की जवाहरात की कटाई के काम यहां होते हैं परन्तु पन्ने के लिये जयपुर का काम अग्रगण्य है। अर्घ मूल्यवान पत्थरों में सुनहला, कटहला, धुनहला, तामड़ा, यशब, फिरोजा, अकीक, मरगज, बिल्लोर सभी की कटाई नगीनो मणियों मे की जाकर उनके सोने चादी के जडाऊ आभूषण तथा देव प्रतिमायें बनाई जाती हैं। मालायें और कण्ठे भी बनाये जाते हैं। जवाहरात के घाट चौके, कमल, अठवांस में होते हैं जो बेगडी कुरण्ड लगी साण पर घिस कर तैयार करता है। हल्के पन्ने को गहरा करने के लिये रग दिया जाकर उसमे जोवन दिया जाता है। जवाहरात कैरट की दर से बेचे जाते हैं। भारत मे मजदूरी सस्ती होती है इसलिये विदेशी यहां से खरीदना पसन्द करते हैं। विदेशों में मशीनों से कटाई की जाती है जो इतनी बढ़िया नही होती जितनी हाथ से की जाती है। जयपुर मे तो जवाहरात का बाजार लगता है और सैकड़ो लोग उसकी दलाली से अपना रोजगार चलाते हैं।

मीनाकारी

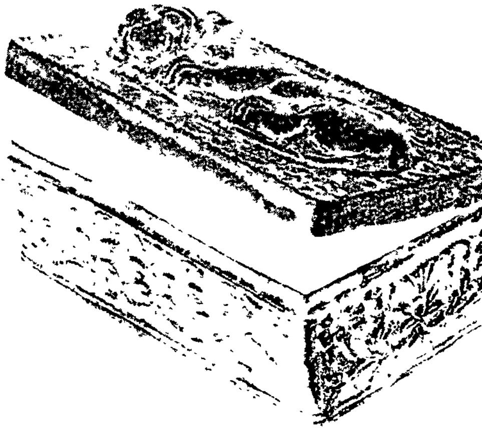
मीना की कारीगरी भी भारत मे विदेश से आई और राजस्थान के राजाओ ने सबसे पहले उसको प्रोत्साहित किया। राजस्थान मे युद्धों द्वारा की अस्थिरता के कारण प्राचीन समय मे मुद्रा रखने के अतिरिक्त स्थाई निर्वाह के लिये स्वर्ण संचय करना अधिक सुरक्षापूर्ण और उपयोगी समझा जाता था तथा आभूषणो को मीनाकारी से अलंकृत किया जाने लगा। मीना की कारीगरी जयपुर के महाराजा मानसिंह प्रथम लाहौर से अपने साथ लाये। लाहौर में यह काम सिक्खों द्वारा किया जाता था। जहां फारस मे मुगलों द्वारा गया जाता था। मीना का काम फाइनीशिया मे सर्वप्रथम किया जाता था। तदनन्तर चौसरो के राजस्व काल में यह कारीगरी फारस मे लाई गई। पंजाब से आकर प्राचीन समय में जयपुर मे बसने वाले मीनाकारो के नाम हरीसिह, अमरसिह, किशनसिह, गोमासिह, श्यामसिह, घीसासिह और वर्तमान मे दुर्गासिह, कुदरतसिह हैं, काशीनाथ व कैलाशचन्द को राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। कुदरतसिह को पद्मश्री से अलंकृत किया

गया है। जयपुर का मीना फारस और यूरोप के मीना से अधिक बढ़िया समझा जाता है। मीना सोना, चांदी और तांबे पर भी किया जाता है। मीना नाथद्वारा में भी किया जाता है। प्रतापगढ़ में काच पर थेवा का काम किया जाता है। महेश सोनी को थेवा कला के लिए राजस्थानीय पुरस्कार मिल चुका है। रामप्रसाद सोनी को राष्ट्रीय पुरस्कार मिल चुका है। रामविलास, बेनीराम, जगदीश सोनी भी उल्लेखनीय हैं।

आभूषणों पर तरज की टिपाई चितेरा करता है—मीनाकार या सुनार भी करते हैं। टिपाई की रेखाओं के बीच-बीच में धातु पर औजारों द्वारा गहराई कर ली जाती है। गहराई के धरातल को छील कर समान कर लेते हैं जिससे उस स्थान में लकीरें या सुम्बी पड़ जाती है। गहराई में रंग भरा जाता है तो वह लकीरों में उज्ज्वल होकर बैठ जाता है तथा पारदर्शक रंग में लकीरों के कारण छाया प्रकाश का प्रभाव भी झलकने लगता है। मीनाकार रंगों को उनकी आग की तपन सहन करने की शक्ति के अनुसार ही क्रम से लगाता है अर्थात् अधिक कड़े या तपन अधिक सहन करने वाले रंगों को पहले लगाया जाता है। जल्दी पिघलने वाले नर्म रंगों को पीछे लगाया जाता है। रंग कांच और चपड़ी दो प्रकार के होते हैं। कांच के रंग जो पत्थर के टुकड़ों की आकृति में प्राप्त होता है, को खरल में पीस कर पानी के साथ कलम द्वारा वांछित स्थलों में लगाया जाता है। रंग तपाने से पिघल जाते हैं। रंग जब समानता में आ जाते हैं तो कारीगर उसको कुरण्ड से पालिश करता है। इस प्रकार रंग पारदर्शक और उज्ज्वल हो जाते हैं। लाल रंग बनाने में जयपुर के मीनाकार कुशल होते हैं। कागज जैसे पतले पत्तर पर भी मीना करने में बीकानेर के मीनाकार सिद्धहस्त होते हैं। तांबे पर केवल सफेद, काला और गुलाबी रंग ही काम में लाया जा सकता है। मीना तलवार, छुरियों की मूठ तथा आभूषणों में बाजू, पगड़ी, हार, ताबीज, कनकती, सिगरेट केस आदि पर किया जाता है। सोने की महंगाई के कारण मीनाकारी बहुत कम की जाने लगी है। पुराने मीने की कारीगरी अधिक मूल्यवान समझी जाती है। दिल्ली के मीनाकार भी कुशल समझे जाते हैं। कांच का रंग पंजाब से उपलब्ध होता है।

चांदी का काम

चांदी का काम प्राचीन समय में राजा-रईसों व धनाढ्य लोगों की उपयोगी सामग्री के लिए काम आता था। चांदी में चिताई, ढलाई, घलाई का काम किया जाता है। चांदी में आभूषणों के अतिरिक्त हुक्के, लोटे, गंगाजली, गिलास, चिरागदान, फूलदान, गमले, कुप्पियां, सुराहियां और नाना प्रकार के पशु-पक्षी भी बनाये जाते हैं। चिताई का काम डिजाइन बनाकर कलम से उकेरा जाता है। घलाई,



ठप्पे में रखकर, ठोक कर उभारी जाती है। बुलन्दी में उभरा हुआ काम होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व रजवाड़ों के जमाने म चांदी अधिक काम मे आती थी क्योंकि सोना राजा-रईस ही पहन सकते थे। आधुनिक समय में धनाढ्य लोग चांदी के आभूषण नही पहनते, सोना ही इस काम में आता है। वर्तमान में चांदी के काम में भी बहुत उन्नति हुई है। होटलों और विदेशियों की पसन्द के लिए नई-नई वस्तुयें बनाई जाने लगी हैं। यहां तक कि कुर्सी सोफे, किवाड, जोडियां भी तैयार की जाती है। बीकानेर में चांदी के डिब्बे, डिब्बिया, अफीमदानियां, सिगरेट केस, कटोरदान, किवाड़ जोड़ियां बहुत सुन्दर बनाई जाती हैं। उदयपुर में पशु-पक्षी, शस्त्रों की मूठें, पुतलियां, सैकलगर घराने के लोग बनाते हैं। पश्चिमी देशों मे इन वस्तुओं का निर्यात बहुतायत मे किया जाता है। चांदी एक हजार डिगरी ताप पर गलाकर पत्तर बनाया जाता है और इससे वस्तुओं के आकार तैयार किये जाते हैं।

धातु का काम

लोहे का काम लुहार करते हैं। धातु का काम केसेरों या ठठेरों द्वारा किया जाता है। लुहारों के दो सम्प्रदाय माने जाते हैं एक गाड़िया लुहार जो गाडियो मे ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं वे चिमटे, खुरपे, दरांती, छोटी-छोटी चीजें बनाते हैं। दूसरा मालविकी कहलाता है जो मध्य प्रदेश मे मालवा से आकर रहने लगे। मुसलमानों मे भी दो सम्प्रदाय होते हैं—मुल्तानी और नागौरी। धातु में घलाई चिताई, ढलाई, कौफ्त तथा मीने का काम किया जाता है। पीतल के बर्तनो पर मुरादाबादी काम जयपुर मे भी किया जाता है। डिजाइन में चिताई कर जमीन में काली लाख की भराई कर दी जाती है तत्पश्चात् सैण्डपेपर से घिसाई कर फालतू लाख को हटा दिया जाता है। काली जमीन के विरोध में चमकता हुआ डिजाइन का काम बाहर निकल आता है। दूसरी विधि मे डिजाइन में रंग भरा जाता है और जमीन खाली छोड दी जाती है। लाख के रगो के अतिरिक्त बढिया मीने के लिए मैंगनीज, कोबाल्ट ऑक्साइड, कॉपर, ऑक्साइड और आइरन ऑक्साइड पीले, नीले, हरे, लाल और कत्थइ रंगो के लिए काम आते हैं। जस्त को गरम कर रंगों को पीस कर लगाया जाता है। गावों के लिए पूजा की मूतियां देवी-देवताओं की ढलाई कर बनाई जाती हैं। झूले की जंजीरें, हाथी, घोडे, मोर, डब्बे, कटोरदान, पखे, अफीमदानियां, सुर्मेदानिया, बन्दूक व तोपों की नालें, पानदान, सरोते, हुक्के, लोटे, धातुओं के बनाये जाते हैं जो साचे तैयार कर उनमे ढाल कर बनाये जाते है। चीजें टुकड़ों में ढाल कर जोड दी जात है। व्हाइट मैटल के बड़े आकार के पशु, पक्षी, फर्नीचर आदि भी आधुनिक समय की आविष्कार है जो उदयपुर मे बनते हैं। पीतल पर खुदाई के काम के लिए जहूर मोहम्मद, गब्बूजी, अब्दुल करीम, मुन्नालाल, अब्दुल गफूर के नाम उल्लेखनीय हैं।

कोफ्तगिरी का काम दमिश्क से पंजाब में लाया गया है और वहां से गुजरात और राजस्थान में लाया गया। फौलाद की बनी वस्तुओं पर यह काम सोने के पतले तारों की जड़ाई द्वारा किया जाता है। वस्तु पर डिजाइन बनाकर उसमें औजार से चिराई आडी-खड़ी रेखाओं में कर ली जाती है। सोने के बहुत बारीक तार खिंचवा कर चिराई में फसाकर छोटी हथोड़ी से ठुकाई करदी जाती है। तत्पश्चात उस पर जिलह घूंटी से दे दी जाती है। फौलाद के काले रंग पर सुनहरी काम सुन्दर दिखने लगता है। तहनिशा के काम में डिजाइन को गहरा खोदा जाता है और उस खुदाई में पतला तार भी दिया जाता है। यह काम कीमती और टिकाऊ होता है। अलवर के तलवार साज यह काम अच्छा करते थे। तलवार, छुरी, कटारों की मूठें, डब्बे, डिब्बिया, पानदान, उगालदान, हुक्का आदि पर कोफ्त व तहनिशा का काम किया जाता है। उदयपुर में भी यह काम सिकलगर अच्छा करते हैं। धातु के काम की रामायण महाभारत विषयक बहुत बडे आकार की ढालें अति महत्वपूर्ण हैं जो नन्दकिशोर मिस्त्री द्वारा 1953 में बनाई गई थी। (जयपुर संग्रह)

लकड़ी व चन्दन की कुराई

राजस्थान मे लकड़ी की कमी के कारण गुजरात की तरह उत्कृष्ट काम नहीं हुआ परन्तु फिर भी धनाढ्य लोगों के लिये दरवाजो की नक्काशीदार, चौखटे, खिडकियां, पालने, झूले, तख्ते, कुर्सियां शेखावाटी में अधिक बने। बीकानेर, पूंगल, भिवानी में लकड़ी और चन्दन का अच्छा काम प्राचीन समय में हुआ। जैसलमेर में पाच मंजिल का ताजिया आकार का स्तम्भ उल्लेखनीय है जो वहां के राज-महलो में विद्यमान है। हाड़ौती और मेवाड के जंगलों से लकड़ी उपलब्ध होती है। इस कारण डूंगरपुर, बासवाडा, प्रतापगढ के मकानों की चौखट में लकड़ी की सुन्दर पुतलियां प्राप्त होती हैं। परन्तु बाडमेर और शेखावाटी जैसे स्थानों मे जहां लकडी उपलब्ध नही होती लकडी का काम सुन्दर हुआ है। बाड़मेर के कारीगर फर्नीचर बहुत अच्छा बनाते हैं और उसकी मांग भी होती है। बीकानेर व शेखावाटी मे मकानो की सम्पूर्ण छत और नीचे की लकड़ी की मठोठ मे सुन्दर उत्कृष्ट चित्रकारी मे चन्दरस का काम उपलब्ध होता है। आमेर महल व जयपुर संग्रहालय के कार्यालयों के दरवाजे लकड़ी पर पीतल की कटाई का उत्कृष्ट प्रमाण है जो शेखावाटी के कारीगरो द्वारा बनाये गये थे। लकडी शृंगार पेटियां, कलमदान, दहेज मे दी जाने वाली बड़ी पेटियां, तम्बाकू के गट्टे डेस्क, ट्रे, चिट्ठीदान, शृंगार टेबिलें, ईसरगौर, शृंगारदान (गज) पीढे, चौकिया, पलंग के पायों, झूलों पर बढिया कुराई का काम तथा चित्रकारी का काम बीकानेर, चूरू, रामगढ़, मंडावा, फतेहपुर स्थानों से लगभग अठारहवी शती का प्राप्त होता है। लकड़ी की बनी वस्तुओं पर लाख का काम भी पाया जाता है।

लकड़ी पर हाथीदांत की पच्चीकारी का काम भी राजस्थान के प्राचीन समय में हुआ है। आमेर महल के सुहाग मन्दिर में चन्दन के किवाड़ों पर दांत की पच्चीकारी का काम प्रमाणस्वरूप विद्यमान है जो 17वीं शती का समझा जाता है। पच्चीकारी का काम भी, लगभग लकडी के काम की उपयोगी सभी वस्तुग्रों पर 18–19वी शती का उपलब्ध होता है। दांत का काम जयपुर, मेडता, उदयपुर में होता है। चन्दन का काम दक्षिण मे ग्रधिक होता है पर राजस्थान में चन्दन उपलब्ध नही के होने कारण काम ग्रधिकता से नही होता। फिर भी हाथीदांत की कुराई का काम करने वाले कारीगर चन्दन का भी काम करते हैं। चन्दन के हाथी, ग्रम्बाबाड़ी, राधा-कृष्ण, जाली कटे हुए लैम्प, बुक शैल्फ, कई प्रकार की वस्तुयें बनाई जाती हैं। मालचन्द, रमेशचद, गोवर्धन, फकीरचंद, लालचंद ग्रौर गणेश हाथीदान के काम के कारीगर समझे जाते हैं।

विदेशों मे हस्तकला की चीजो की मांग बढ़ने के कारण जोधपुर मे लकड़ी, हाथी-दात की पच्चीकारी का काम, सीप का काम बहुतायत से होने लगा है। पुरानी चीजो के ग्रनुरूप नई चीजें बनाई जाती हैं। लकडी के घोड़े, हाथी, डैस्कें, पशु-पक्षी, सिगार पेटियां खूब बनाई जाती हैं जिनकी देश-विदेशों में खूब मांग है।

पत्थर का काम

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि राजस्थान के प्राचीन स्थलों से शुंग, कुषाण, गंधार, गुप्त उत्तर गुप्त, मध्य-युग शैली की प्रतिमायें उपलब्ध हो चुकी हैं। स्थापत्य के उत्कृष्ट मन्दिर, देवल, छतरियां सदियों से यहां के कारीगरों की उत्कृष्टता के प्रमाणस्वरूप मौजूद हैं। डूंगरपुर से हरा, काला, तलवाड़ा, छिछ, ग्रावलपुरा, घमोतर से कडा सफेद, धोलपुर से लाल, भरतपुर से गुलाबी, मकराना, मैसलाना से काला सगेमरमर, जालौर से ग्रेनाइट ग्रौर कोटा से स्लेटी पत्थर खानों से उपलब्ध होता है, जिनकी प्रतिमाये बनती रही हैं तथा भवन निर्माण हेतु कुराई का काम सिलावटों द्वारा किया जा रहा है। दिलवाडा के भव्य मन्दिर, जोधपुर का यशवन्त थड़ा, ग्रलवर की मूसी महारानी की छतरी, जयपुर संग्रहालय, सिटीपैलेस व गैटोर की छतरियो का ग्रांशिक भाग, रणकपुर का जैन मन्दिर, ग्रागरा का ताजमहल सभी मकराणा के संगमरमर की कारीगरी की भव्यता को प्रदर्शित करते हैं। दिल्ली का राष्ट्रपति भवन, धोलपुर के लाल पत्थर से बना है। डीग के महल, भरतपुर का किला, बासी ग्रौर पहाडपुर के गुलाबी पत्थर मे बने हैं। झालरापाटन का सूर्य मन्दिर, जोधपुर का मेहरानगढ़ का किला, उम्मेदभवन, मण्डोर उद्यान की देवल ग्रौर छतरिया गुलाबी पत्थर की बनी हैं। ग्रजमेर की जैन मन्दिर की नसियां, बीकानेर की सेठों की हवेलियां, लालगढ़ महल की कारीगरी की समानता कहीं

नहीं मिलती। जैसलमेर के सुनहरी पीले पत्थर की कुराई, मोहतों की हवेली, पटवों की हवेली, यहां तक कि छोटे से छोटे मकान के जालियों, झरोखें, स्तम्भों का चमत्कारपूर्ण काम संसार विख्यात हो चुका है। भोमियां, मण्डोर, नीमाजमाता, आमानेरी, रामगढ़, आमेर, भण्ड-देवरा, कृष्ण विलास, चन्द्रावती, करणी माता, जगत, आमझारा, कल्याणपुर की प्रतिमायें उत्तर गुप्त काल से मध्यकाल तक के कार्य की श्रेष्ठता को प्रदर्शित करती हैं। सिलावटों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्प्रदाय के लोग होते हैं। जयपुर के सिलावट ब्राह्मण होते हैं जो देवी-देवताओं की प्रतिमायें बनाते हैं। किशोरी, दौसा, थानागाजी, गोला का वास, बांदीकुई, सिकन्दरा, गोविन्दगढ़, चौमूं में भी सिलावट पत्थर की कुराई का काम करते हैं पर वे अधिकतर इमारती काम खम्भे, जालियां, टोडे, अधिक बनाते हैं। जोधपुर, जैसलमेर के सिलावट मुसलमान सम्प्रदाय के होते हैं। जयपुर मूर्तियों के काम के लिए प्रसिद्ध है और देश भर में मन्दिरों के लिए देवी-देवताओं की प्रतिमायें यहीं बनाई जाती हैं। आकृति प्रतिमायें (पोर्ट्रेट) भी यहां यथावत् बनाई जाती हैं, परन्तु मूर्तियों में वह लालित्य नहीं पाया जाता जो प्राचीन प्रतिमाओं में पाया जाता है। अब तो यह लोग भी आधुनिक प्रभाव के कारण अनाकृतिमूलक मूर्तियां बनाने लगे हैं। नाहटा, मिश्रा, पाण्डे, जैमिनी मूर्तिकला के प्रसिद्ध प्रतिष्ठान हैं। अब तो संगमरमर में सोफे, कुर्सियां, सिंहासन, जालियां, पशु-पक्षी भी बनने लगे हैं।

कुट्टी का काम

मुगलों के समय ही कुट्टी का काम होता चला आया है। पातीराम और चिरंजीलाल के नाम उस जमाने के सामने आये हैं। उस परिवार के लोग महाराजा रामसिंह द्वितीय के समय दिल्ली से जयपुर आये थे। श्रीचन्द, कुंवर सिंह, कान्तिप्रसाद, सांवलसिंह, जमनाप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। जिन्होंने महाराजा रामसिंह के समय में लगभग बारह फुट तक के सेठ-सेठानी बनाये थे और अन्य लाइफ साइज के अति सुन्दर खिलौने फिरंगी, सिंह, बन्दर कुट्टी के बनाये थे जो नृसिंहलीला में विश्वेश्वरजी के मन्दिर के बाहर जनता के देखने हेतु सजाये जाते थे। सांवलसिंह और जमनाप्रसाद महाराजा स्कूल आर्ट में टीचर थे और कुट्टी का काम सिखलाते थे। उन्होंने सुदर्शन व उसके भाइयों को बयाना से जयपुर बुलवाया। यह लोग पक्षी बनाते थे। सांवलसिंह और जमनाप्रसाद चौपाये पशु बनाने में सिद्धहस्त थे। त्रिपोलिया बाजार में बन्सीलाल, कल्याण खटाई वाला, ओमप्रकाश व हल्दिया परिवार को खिलौने बेचा करते थे। सांवलसिंह के परिवार में देवीसिंह व उनका पुत्र दीनदयाल अब भी कुट्टी व पाटरी का काम करते हैं। बालचन्द व कांति प्रसाद मिट्टी के खिलौने और पाटरी का काम करते थे। जयपुर संग्रहालय के सुन्दर खिलौने जिनमें हस्तकला कारीगरों, आसनों, ठगों, नेशेबाजों, पगड़ियां बांधे चेहरों के संग्रह

इन्हीं के बनाये हुये हैं। कागज, चाक मिट्टी, फेविकोल, गोंद को गला कर पीस कर लुग्दी बना ली जाती है। कोई आकृति बनाने के लिये पहले उस वस्तु का मिट्टी में माडल बना कर पेरिस प्लास्टर में उसका, माडल से, सांचा बना लिया जाता है। तैयार की गई लुग्दी को डाई या सांचे मे दबा कर जमा दिया जाता है। सूखने पर हाथ, पांव, कान, सींग, जो साचे से नहीं निकल सकते, को लुग्दी द्वारा तैयार किये गये मानव या पशु-पक्षी के आकार के साथ जोड़ दिया जाता है। यदि आकार में अलग बाहर निकली हुई चीजें नही होती हैं तो दो हिस्सों में जो चीज सांचे से निकलती है उस ही को जोड़ लिया जाता है। हाथ से फिनिशिंग देने पर खड़िया या चाइना क्ले का अस्तर बनाई हुई वस्तु पर कर दिया जाता है। अन्त में इच्छित रंग कर दिये जाने पर वस्तु तैयार हो जाती है।

ब्लू पाटरी

ब्लू पाटरी का काम मुगल बादशाहों के सम्बन्ध के कारण आगरा और दिल्ली से जयपुर लाया गया। मुगलों से पूर्व यह परम्परा चीन और फारस में थी। पालिशदार टाइलों का काम तुगलक स्मारकों में चौदहवीं शती में पाया जाता है ग्वालियर के मान मंदिर में भी ऐसी टाइलें देखने को मिलती हैं। आमेर के मानसिंह महल, रामबाग होटल के वार रूम, महारानी रूम, उदयपुर के महलों में भी टाइल का काम देखा जा सकता है। पेशावर, लाहौर और मुलतान में ब्लू टाइल व पाटरी का काम हुआ करता था। दिल्ली, खुरजा, आगरा, मेरठ, रामपुर और बुलन्द शहर मे पाटरी का काम होता है। जयपुर में महाराजा सवाई जयसिंह के समय में दिल्ली बयाना और आगरा के पाटरी का काम करने वाले चूडामन और कालूराम बयाना से आये थे, जिन्हें यह काम भोला नामक दिल्ली के आदमी से महाराजा रामसि के समय मे सिखलाया गया। इन दोनों को महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स में का सिखाने हेतु नियुक्त किया गया। चूड़ामन के पुत्र जमनाप्रसाद और कालूराम के पु सांवलसिंह को भी स्कूल ऑफ आर्ट्स में काम सिखाने हेतु नियुक्ति दी गई। जिन्हो तरह-तरह के आकार की पाटरी बनाई जिसके प्रमाण जयपुर संग्रहालय में विद्यम हैं। सांवलसिंह के परिवार के देवीसिंह और उसका पुत्र दीनदयाल कुट्टी के काम अतिरिक्त ब्लू पाटरी का काम भी करते हैं। इनके अतिरिक्त त्रिलोकचन्द, भगव सहाय, दुर्गालाल, हनुमानसहाय, गिरिराज, भैरू खारवाड़ तथा कृपालसिंह इस का को करते हैं। पद्मश्री कृपालसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिन्होने पाटरी के क का पुनःस्थापन किया है तथा कई रगों और आकारों का आविष्कार भी किया है "पद्मश्री" कृपालसिंह स्वयं चित्रकार हैं इसलिये पाटरी पर नाना प्रकार के सु अलंकरणों को उन्होंने स्थान दिया है। उन्होंने जो आकार बनाये हैं वे पहले क

नहीं बने थे जिनमें बड़े-बड़े फूलदान से लेकर छोटी राखदानी तक उल्लेखनीय हैं। स्वर्गीय नाथी बाई भी इस कारीगरी की विशेष जानकारी रखती थी। नाहटा ग्रौर पिंक सिटी संस्थान भी उक्त कार्य को करवाते हैं। क्वार्टज पत्थर नीम का थाना, ग्रजमेर ग्रौर ब्यावर से पिसा हुग्रा उपलब्ध हो जाता है। पुराने जमाने मे हाथ से पीसा जाता था। क्वार्टज पाउडर में सज्जी, मुलतानी मिट्टी, कथीरा गोंद, जलेसरी कच्चा कांच का पाउडर मिला कर लुग्दी बनाली जाती है। पानी का छींटा देकर रात भर लुग्दी को रख दिया जाता है। इच्छित वस्तु के प्लास्टर के सांचे मे लुग्दी को दबा कर भर दिया जाता है। साचे मे ढाले गये बर्तन में राख भर कर उल्टा रख दिया जाता है ग्रौर साचे को ग्रलहदा कर लिया जाता है। सूखने पर राख झाड़कर बर्तन की घिसाई कर ली जाती है। बर्तन का मुंह ग्रौर पैंदा ग्रलग से चाक पर बना कर जोड़ दिये जाते हैं। पालिश के लिये पिसा हुग्रा क्वार्टज व कांच बारीक चलनी में छान कर मैदे की लेही मे डाल कर मथा जाता है ग्रौर बर्तन पर उसका ग्रस्तर डाला दिया जाता है। तत्पश्चात् डिजायन, पेन्ट या खत के लिये कोबाल्ट ग्रॉक्साइड को पीस कर रंग बनाकर काम में लिया जाता है। कॉपर ग्रॉक्साइड से जमीन, क्रोमियम से पत्तियां, मैंगनीज ग्राक्साइड से पत्तियों का शेडिंग डाला जाता है। तत्पश्चात् कांच, सिन्दूर, सुहागा मिला कर मूस में गला कर पानी की तरह पतला कर लिया जाता है ग्रौर पानी में बुझा लिया जाता है। पानी से निकाल कर सुखाया जाकर चक्की में पीसा जाता है। छान कर लेही में मिला कर बर्तन पर ग्रस्तर डाला जाता है। भट्टी मे 800 डिग्री ताप में छह घण्टे तक पकाया जाता है। पकते समय रंग को फिल्टर होते देखा जाता है। दो रोज भट्टी में रख कर ठंडा होने पर बर्तनों को बाहर निकाल लिया जाता है। गरम निकालने से बर्तन तडक जाता है। ग्रागरे में कई प्रकार के चूड़ियों के रगो के शेड उपलब्ध होते हैं जो ग्राजकल काम मे लिये जाते है। मीने के कांच के रंग फिरोजाबाद मे मिलते है वह भी काम मे लिये जाते हैं।

लाख का काम

चपड़ी को पानी मे गरम कर पिघलाया जाकर साधारण रंग मिला कर गूंधा जाता है ग्रौर बट्टी बनाली जाती है। चाक मिट्टी व सूखा बिरोजा बराबर मिला कर कढ़ाई मे गरम कर लुग्राब तैयार किया जाता है, फिर गूंध कर उसके बेलन तैयार करते हैं। लकड़ी के बटकड़े मे जिसमें चूड़ी की साइज के खाचे बने होते हैं, बेलन की चपडी को ठोस भर दी जाती है। पुनः लकड़ी के गोल बेलन के ऊपर बटकड़े से निकाल कर चूड़ी को गोल कर ली जाती है परन्तु ग्राधुनिक समय में चूड़ियों के ग्रतिरिक्त लाख के काम के पशु-पक्षी, पेन्सिल व ग्रन्य वस्तुयें भी

बनाई जाती हैं जिन पर नगीनों की जड़ाई भी की जाती है। ये चीजें बनाने के लिये बेरजा अधिक काम में लाया जाता है। पहले जो वस्तु बनाई जाती है लकड़ी या मिट्टी में तैयार की जाती है, पुन: उस वस्तु को गरम कर खटकड़े से उस पर बेरजा मिश्रित चपड़ी चढा दी जाती है। नगीने बम्बई और फीरोजाबाद से उपलब्ध किये जाते हैं। नगीने लगाने के लिये सिगड़ी पर तश्तरी में रख कर उन्हें गर्म किया जाता है और चिमटी से एक-एक कर लाख पर चिपका दिये जाते हैं। जैसा डिजाइन हो उस पर उसी प्रकार कई रंग के नगीने लगा कर वस्तु को सम्पूर्ण कर दिया जाता है। इन चीजों का निर्यात किया जाता है और सजावट के काम में लिया जाता है। जयपुर के आयाज अहमद लाख के काम के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

सवाई माधोपुर, खडेला, लक्ष्मणगढ़, इन्द्रगढ़ (कोटा) में लकड़ी के खिलौनो व अन्य वस्तुओ पर खराद से लाख का काम किया जाता है जो बहुत पक्का होता है।

टेराकोटा

पकाई मिट्टी के खिलौने टैराकोटा, बर्तन, कालीबंगा आहाड से 2500 वर्ष ई. पू. से 2000 वर्ष ई. पू. के प्राप्त हो चुके है। बड़ोपल के तीसरी शताब्दी के अति सुन्दर टैराकोटा बीकानेर संग्रालय मे विद्यमान हैं।

मिट्टी के खिलौने प्राचीन काल से अब तक रुचि वैचित्र्य के साथ अपना रूप परिवर्तित करते रहे हैं। मध्य युग और उसके पश्चात् वीरगति को प्राप्त वीर पुरुषों देवी-देवताओं, और नागों की पूजा का प्रचलन हुआ उनमें देवनारायन हडबूजी, गोगाजी, खड़बूजी, भैरव, काली, इत्यादि उल्लेखनीय है नाथद्वारा के पास मोलेला के कुम्हारों के कार्य में इस काल मे जो प्रसिद्धि पाई है उसकी समानता कहीं नहीं है। देश-विदेश में इस कारीगरी को मान्यता प्राप्त हो चुकी है और स्थान-स्थान पर इसका प्रदर्शन व प्रशिक्षण दिया जाने लगा है। मोलेला की मिट्टी के साथ एक चौथाई गधे का गोबर मिलाया जाता है और उसको जमीन पर थापा जाता है और हाथ और साधारण औजार से ही आकृति उभारी जाती है। एक सप्ताह तक सूखने के बाद आग मे इन्हे 800 डि. सें. ताप में पका कर गेरू रंग कर दिया जात है। आदिवासी जातियां मीणा, गूजर, डांगी, गरासिया, जातियों के लोग पूजा के लिये इन मिट्टी की प्रतिमाओ को खरीदते है परन्तु अब तो धनाढ्यलोग अपने घर में इन्हें सजाते हैं और इनकी माग बढ गई है। मारवाड़ में ईसर-गौर, ढोला मारू घुड़सवार आदि अधिक बनाये जाते हैं। कुम्हार जाति के लोग जो घरेलू आवश्यकत के बर्तन बनाते हैं टैराकोटा या मिट्टी के खिलौने बनाने का कार्य करते हैं। खेमराज *मोहनलाल कुम्हार के नाम इस कार्य के लिये प्रसिद्ध है।*

ऊंट के कुप्पे व कांच या लकड़ी की वस्तुओं पर मुनव्वती काम

ऊंट के कुप्पों पर मुनव्वत का काम बीकानेर में होता है। कुप्पे तेल रखने के काम में लाये जाते थे परन्तु बीकानेर के उस्ता परिवार के लोगों ने उन पर नक्काशी का काम प्रारम्भ किया। शनैः शनैः नक्काशी और मुनव्वती काम उन्होंने कांच व लकड़ी व मिट्टी की वस्तुओं पर भी प्रारम्भ कर दिया। निर्धारित वस्तु पर डिजायन की टिपाई की जाकर उसमें बारीक मिट्टी की पिसी हुई ठीकरी (कपड़छान) में गोंद मिला कर भराई करदी जाती है ताकि टिपाई पर उठाव आ जाता है। तत्पश्चात् उस पर चन्दरस का रोगन (स्प्रिट व चपड़ी का गाढा घोल) लगाकर ताव देखा जाता है कि वह न गीला रहे न सूख ही जाय। अन्त में सोने के तबक की छपाई कर दी जाती है। जहां रोगन लगा रहता है तबक चिपक जाता है बाकी फालतू को रुई के फाये से हटा दिया जाता है। टिपाई के चारों ओर जमीन में हंसराज हिंगलू का रंग भर दिया जाता है। शीशियों, कुप्पियों, आइने, डब्बे-डिब्बियों, मिट्टी की सुराहियों पर यह काम किया जाता है। बीकानेर के उस्ता स्व. हिसामुद्दीन इस काम को कुशलता से करते थे। राजस्थान लघु उद्योग निगम ने एक छोटा प्रशिक्षण संस्थान भी बीकानेर में खोला था जहां कुछ युवकों ने इस कार्य को सीखा। जयपुर व बीकानेर संग्रहालयों में इस कार्य की अनेक सुन्दर वस्तुयें देखने को मिलती हैं।

गलीचे व दरियां

जयपुर गलीचे के काम के लिये प्रसिद्ध है। परन्तु अब तो यह कार्य राजस्थान में सब ही जगह किया जाता है। गलीचा बनाने का काम जेलों में अधिक करवाया जाता था। बीकानेर जेल का गलीचों का काम सर्वाधिक सुन्दर माना जाता था क्योंकि ऊन वहां भेड़ो से बहुतायत से उपलब्ध होती थी। सूत और ऊन के ताने-बाने लकडी के रोलर (लूम) पर लगाये जाकर गलीचे की बुनाई होती है। ऊन को विविध रंगो में रंगाई की जाती है, जो रंगा हुआ उपलब्ध होता है। बुनाई में जितना बारीक धागा व गांठे होती हैं गलीचा उतना ही बढ़िया समझा जाता है। गलीचे ईरान और अफगानिस्तान में अच्छे बनते हैं जिनमें बाग-बगीचे, चिड़िया, बेल, फूल के डिजाइन बनाये जाते हैं।

कश्मीर के गलीचे उत्कृष्ट होते हैं। बनारस और मिर्जापुर में गलीचे का काम बहुतायत से होता है। गलीचे बनाने की कला ईरान से ही भारत मे आई है। भारत गर्म देश है इसलिये गलीचो का उपयोग समृद्ध लोग शौकिया तौर पर ही मकानो की सजावट के लिये करते हैं। सामान्य तौर पर बुनवट मे एक चौकोर इन्च मे एक सौ चालीस गांठें गलीचे में लगाई जाती है। इससे अधिक होने पर

गलीचे की बुनगट में उत्कृष्टता समझी जाती है। एक इन्च में एक सौ अस्सी गांठ तक भी हो सकती है। रंगों की उत्कृष्टता और डिजायन पर भी कीमत निर्भर करती है। बुनाई के लिये डिजाइन बनाने वाला कागज पर पूरा नक्शा तैयार कर देता है तत्पश्चात् एक सिद्धहस्त जो कार्य अपनी देखरेख में मजदूरों से करवाता है, नक्शे के मुताबिक एक निश्चित संगीत ध्वनि में बुनगट के रंग बोलता जाता है और छोटे बच्चे जो इस कार्य को करते हैं उनके विविध धागे बुनाई से डालते रहते हैं। बुनाई के पश्चात् कैंची से बुनगट को काट कर बराबर किया जाता है और अन्त में धुलाई करवाई जाती है। मुस्लिम परिवार इस कार्य में अधिक दक्षता रखते हैं। गलीचे का काम जयपुर, ब्यावर, किशनगढ, टोंक, मालपुरा, केकड़ी, भीलवाड़ा, कोटा सब ही जगह किया जाता है। गलीचों का निर्यात भी बहुतायत से किया जाता है। राजकीय संग्रहालय जयपुर में ईरान के शाह अब्बास द्वारा मिर्जा राजा जयसिंह को भेंट स्वरूप दिया गया गलीचा जिसमे बगीचा और महल बना हुआ है संसार के अभूतपूर्व गलीचों में से है। यह गार्डन कार्पेट के नाम से विख्यात है।

दरियों का भी आजकल बहुत प्रचलन हो गया है। गलीचा मंहगा होने के कारण दरियां दीवार पर सजाने या बिछाने के काम में ली जाती हैं। विदेशों में दरियों की अच्छी मांग है जो हल्के रंगों की होनी चाहिये। डिजाइन ज्यामितिक पैटर्न के होते हैं पर बेल बूटे शिकार, पशु-पक्षियों के डिजाइन भी बनाये जाते हैं। दरियां सूत-सिल्क, सूत-ऊन की भी बनाई जा रही हैं। दरियों में धागा 20 प्लाई (बीस धागे मिलाकर एक डोरा) का बढ़िया बारीक समझा जाता है। दरियां जोधपुर, नागौर, टोंक, बाड़मेर, भीलवाड़ा, शाहपुरा, केकड़ी, मालपुरा आदि स्थानों पर बनाई जाती है। मिर्जापुर में दरियों के कारखाने बहुतायत से हैं जहां राजस्थान के व्यापारियों का काम भी खूब होता है। बाजारू दरियों में घटिया धागे लगाये जाते हैं जो इकरंगी होती है, अधिक से अधिक हाशिया उन पर होता है। ऐसी दरिया साधारणतया घरो मे काम में ली जाती हैं।

पच्चीकारी

पच्चीकारी मुगलो के समय से अधिक प्रचलित थी क्योंकि वे बड़े-बड़े महल मस्जिद, मकबरे बनवाते और उन्हें सजाते थे। यह काम, नूरजहां के वालिद एतमादुद्दोला, जो सन् 1622 मे स्वर्गवासी हो गया था, के आगरा स्थित संगमरमर के मकबरे पर बहुत सुन्दर और उत्कृष्ट मिलता है। इसे नूरजहां ने छः वर्ष में 1628 में सम्पूर्ण करवाया था। यहां तक कि शाहजहां ने भी ताजमहल में इस ही मकबरे के समान काम करवाया था। एतमादुद्दौला के मकबरे के बाहरी भाग के ऊपरी हिस्से में संगमरमर पर ज्यामितिक रूपांकन बनाये गये हैं जब कि उसके नीचे के हिस्से मे बेलबूटे का अलंकरण पच्चीकारी में पाया जाता है।

लाल बलुआ पत्थर में सफेद संगमरमर की जड़ाई या सफेद पत्थर में काले संगमरमर की जड़ाई का काम भी पच्चीकारी की संज्ञा में ही आता है। ऐसा काम दिल्ली के पुराने किले में शेरशाह की मस्जिद में, हुमायूं के मकबरे में, फतेहपुर सीकरी की मस्जिद में, सिकन्दरा में अकबर के मकबरे में भी काम बहुत उत्कृष्ट कोटि का कहा जाता है।

पच्चीकारी काम सोलहवीं शती में फ्लोरेंस में भी किया गया जिसे पीट्राड्यूरा नाम से बोला जाता है। कहा जाता है कि यह काम फ्लोरेंस से भारत में आया।

दीवाने खास दिल्ली व दीवाने खास आगरा में यह काम खम्भों पर बहुत ही उत्कृष्ट किया गया था।

आगरा के ताजमहल में या एतमादुद्दौला के मकबरे में जब यह काम किया गया होगा तब ही से प्रेरित होकर कारीगर आगरे मे यह काम बहुतायत से करने लगे। इस समय आगरा में हजारों कारीगर इस काम को करते हैं और बड़े-बड़े कारखाने और शोरूमों में यह काम देखने को उपलब्ध होता है। मुसलमान परिवारों में ही यह काम अधिक प्रचलित है। आगरे के प्रसिद्ध कारीगर केन्द्रीय हैण्डीक्राफ्ट बोर्ड से पुरस्कृत किये जा चुके हैं जिनमें बहाबुद्दीन, नकी अहमद, मुहम्मद, मुख्त्यार, अब्दुल वहीद, रफीकुद्दीन, बशीरुद्दीन, जफर, जमील अहमद, अखलाक प्रसिद्ध हैं। यह लोग संगेमरमर के चौपहलू, छः पहलू, अठ पहलू, टेबुल टाप, छोटे-बड़े बक्सों, रकाबियों और टाइलों पर पच्चीकारी का काम करते हैं। विदेशी इन्हें बड़ी रुचि से खरीदते हैं और उनका निर्यात भी बड़ी मात्रा में होता है। आगरा में यह बहुत बड़ा उद्योग है। काम, संगेमरमर सफेद, काला, जैसलमेरी पीला, झांसी का गोरारा एवं सुलेमानी पत्थर आदि, जो मुलायम पानीदार होते हैं, पर ही किया जाता है। कड़े पत्थर, जिनमें लोहे की मात्रा अधिक होती है, पर काम करना या छिलाई करना कठिन होता है। जड़ाई के लिये पत्थर, रूपांकन खाचों के अनुरूप ही, काटे जाते हैं। डिजाइन या रूपांकन की टिपाई पहले पत्थर पर कर ली जाती है।

संगमरमर, राजस्थान में, मकराने से मंगवाया जाता है जहां यह खानों से बहुतायत से उपलब्ध होता है। संगमरमर की तीन किस्मे होती हैं। नम्बर एक का पत्थर पच्चीकारी के उपयुक्त समझा जाता है जो अधिक सफेद, पानीदार और मुलायम होता है। इसकी कीमत लगभग सौ रुपया फुट होती है। पच्चीकारी के लिये पत्थर दाना फरंग, लाजवर्द, अकीक, मूंगा, फीरोजा, खट्टू (पीला), बड़ौदा (गहरा हरा), सोडालाइट (नीला), ऊदा (गहरा बदामी) और मरगज काम में लिये जाते हैं। सीप, घोंघा और पच्चा सीप, (कई रंगों में) भी काम आती हैं।

दाना फरंग जर्मनी से, अकीक खम्भात से और लाजवर्द ईरान और अफगानिस्तान से आता है। मूंगा समुद्र से निकलता है बाकी सब पत्थर खान से उपलब्ध होते हैं।

रतब (कत्थई), गार (हरा), जहर मोहरा (पीला व हरा), कड़े पत्थर होते हैं—इनकी कटाई मेहनत से होती है इसलिये इनसे बना हुआ काम भी मंहगा होता है। पुरानी इमारतों में पच्चीकारी में यही पत्थर काम में लिये गये होते हैं।

इन पत्थरों की कटाई पुराने ज़माने में बांस की कमानी में तार बांध कर कुरण्ड के चूरे में पत्थर पर पानी डाल कर की जाती थी पर अब तो हीरे की कणी वाले चक्कों का प्रचलन हो गया है जो बिजली की मोटर से चलते हैं। उपरोक्त पत्थरों की पतली पच्चर काट ली जाती है। पच्चरों को तदनन्तर फूल पत्ती व डांड के आकार में कैंची से मोटे तौर पर काट लिया जाता है फिर अन्त में कुरण्ड और लाख की बनी साण पर उनको सही आकार घिस कर दिया जाता है।

पत्थर की छिलाई सिर्फ दो ही टांकियों से डिजायन पर की जाती है जो एक नरजा और दूसरी नरजो कहलाती है। खुदाई होने के पश्चात् कटाई किये हुये पत्थरों को, रूपांकन के खांचों में पुराने जमाने में उरद की दाल, सफेद चूना, सफेदा, पताशा और गोंद के मसाले से चिपकाया जाता था। आजकल मोम और सफेद सीमेन्ट का मसाला बना कर चिपकाने का काम किया जाता है जो सस्ता होता है। अत्याधुनिक तरीके से महगा और अधिक टिकाऊ काम एरेलडाइट में सफेद सीमेन्ट मिला कर किया जाता है। काम तैयार हो जाने पर कुरण्ड और लाख की बनी बट्टी से उसकी घिसाई की जाती है। इसके पश्चात् अकीक के मल (अकीक का एकत्रित चूरा) को बट्टी से घुटाई की जाती है। अन्त मे वरी (जस्ता, ताम्बा आदि का पाउडर) को कपड़े में लगाकर घोटते हैं ताकि वस्तु पर अच्छी चमक पैदा हो जाती है।

यह काम दिल्ली में भी कुछ परिवार करते हैं। जयपुर मे एक कारीगर इस काम में माहिर हैं जिनका नाम मुहम्मद हुसेन है। मुहम्मद हुसेन के लड़के सलीम अहमद, मुहम्मद आसिफ और शहजाद तीनों ही यह काम करते हैं। मुहम्मद हुसेन ने सिटी पैलेस में मुबारक महल के सामने वाले द्वार पर दोनो तरफ के दो चबूतरों के पुराने उखड़े हुये काम को भी तैयार किया है। व्यक्तिगत संग्रह मे राधाकृष्ण के एक पैनल के उखड़े हुये काम को भी ठीक किया है। जापानी स्मारक भी बड़े आकार का बनाया है। यह अब डाइनिंग टेबुल, कुर्सी, सोफों का भी पच्ची का काम करता है।

जयपुर में वृद्ध कारीगर गोपाललाल भी इस कार्य को जानते हैं जिसने आमेर महल, जयपुर में सफेद मकराने पर काले मकराने के पत्थर की पच्चीकारी का काम कर उखड़े हुये पुराने काम में जान डाल दी है। पच्चीकारी जैसा दिखने वाला नकली और सस्ता काम भी देखने को मिलता है जो आराइश पर पेन्ट कर पच्चीकारी जैसा ही बनाया जाता है। इसका प्रमाण केन्द्रीय संग्रहालय, जयपुर के एलबर्ट हाल की दीवार पर देखा जा सकता है। नजदीक से ही देखने से पता चलता है कि काम मे पत्थरों की पच्ची नहीं बल्कि सिर्फ बेल बूंटों पर पेन्ट किया हुआ है। हैण्डीक्राफ्ट बोर्ड या लघु उद्योग निगम राजस्थान को चाहिये कि ऐसे कारीगरों को प्रोत्साहित कर उन्नत किया जाय। राजस्थान में उत्तरोत्तर सब ही हस्तोद्योगों की वृद्धि होती जा रही है। यहां तक कि मुगलकाल में जो काम होते थे उनसे भी अधिक बढ़-चढ़ कर उन्नति स्वतन्त्रता प्राप्ति प्रश्चात् हुई है। कुछ ऐसे नवीन सामने आ चुके हैं जो पहले कभी देखने को उपलब्ध नहीं थे।

□

मनोरंजन-आखेट

आखेट का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मनुष्य का स्वयं का, जब वह प्रागैतिहासिक युग में गुफाओं में रहता था—जानवरों को मारकर चमड़े से शरीर ढकता था—उनका मांस खाता था। आखेट के लिये उसने शस्त्रों का प्रयोग किया जो पत्थरों को काट-छांट कर बनाये जाते थे। शिकार के अनेक दृश्य गुफा भित्ति-चित्रों द्वारा उपलब्ध होते हैं। आखेट के लिये जिन शस्त्रों आदि का मानव ने प्रयोग किया उन्हीं के आधार पर उन युगों का नाम भी पड़ गया था। पाषाण काल के शस्त्र भारी और भौंडे होते थे जिनमें कुल्हाड़ी, काटने वाले और कूटने वाले शस्त्र मुख्य थे। शिकार के लिये बनाये गये हथियारों में छेनी, दरांती, गदा, तीर, चाकू और आरा आदि हैं जो विभिन्न प्रकार के जानवरों को मारने के काम आते थे। जिन पशु पक्षियों का शिकार उस प्राचीन युग में होता था उनमें बारह सिंगा, वन्य शूरक, गैण्डा, सांभर, सेही, भैंसा, बैल, चीता, शेर, घोड़ा, हाथी, बन्दर, मयूर आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं।

कालान्तर में मानव की बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रगति के साथ लौह का प्रयोग होने लगा। लौह में कड़ापन और पैनापन दोनों ही सुलभ थे जो शिकार और युद्ध दोनों के लिये उपयोगी होता था। लौह युग से हथियारों में विविधता आई और उसके साथ ही शिकार की विधियों में भी।

ज्यों-ज्यों सभ्यता का प्रसार हुआ मनुष्य में एकाधिकार और साम्राज्यवाद की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और वह एक दूसरे के विरुद्ध लड़ने के लिये बाध्य हो गया। युद्ध कुशलता के लिये उसे नित्य प्रति अपने पौरुष और वीरता की अभिवृद्धि शिकार द्वारा करनी पड़ती थी। पूर्वकाल में भोजनोपलब्धि, हिंस्र पशुओं से रक्षार्थ शिकार करने पड़ते थे परन्तु कालान्तर में शिकार अभ्यास और मनोरजन के लिये भी किया जाने लगा।

पौराणिक कथाओं, साहित्य और पुरातत्वीय आधारों पर शिकार के अनेक संदर्भ मिलते हैं। भरहुत के एक शिलापट्ट पर शूकर आखेट का दृश्य अंकित है।

महाकवि जातक में वाराणसी के राजा का योद्धाओं सहित तलवार, भाले, कटार, धनुष लिये वानरों को मारने का दृश्य है। अजन्ता की गुफा नं 17 में शरभ जातक कथा में राजा मन्त्रियों सहित घोड़ों पर तरकश भरकर शिकार हेतु जाता हुआ देखा जा सकता है। समुद्रगुप्त का, व्याघ्र को धनुष से मारते हुये, सिक्के पर अंकन पुष्टि करता है कि बुद्ध व गुप्त काल में शिकार का प्रचलन था। कादम्बरी, रघुवंश, रामायण, मालविकाग्निमित्र नाटक, दुष्यन्त-शकुन्तला नाटक में आखेट के वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। राजस्थान की पूर्व मध्य एवं मध्यकालीन प्रतिमाओं मे शिकार के दृश्य प्राप्त होते हैं। मूर्तिकला में शिकार के दृश्य कम देखने को मिलते हैं क्योंकि मूर्तिकला मे दृश्यांकन सीमित होते हैं। चित्रों में सोलहवीं शती के शिकार के चित्रों की उपलब्धि होती है परन्तु ऐसे चित्र मुगल शैली के अधिक हैं। राजस्थान में कोटा, बूंदी शैली के चित्रों में शिकार के दृश्य बहुतायत से देखने को उपलब्ध होते हैं। कोटा, बूंदी के सब ही राजा शिकार के शौकीन थे। कारण है हाड़ौती के घने जंगलों में जंगली पशु-पक्षियों का पाया जाना। मुगलों के प्रारम्भिक समय में बन्दूक और बारूद का प्रयोग भारत में आया और उसी के साथ शिकार में नाना विधियां प्रयोग में ली जाने लगी। मुगलों के शिकार करने के तरीके को "कमरगाह" या बाडा कहते थे जिसमे सिपाही हाका करने का काम करते थे। वे जानवरों को घेर कर बहुत बड़ा अहाता बना लेते थे और फिर आगे बढ़ते हुए घेरे को कम करते जाते थे। अकबर के समय पचास हजार सिपाहियों द्वारा साठ मील के क्षेत्र का एक आयात बनाया गया और उसे संकुचित कर आगे बढ़ने में एक महिना लग गया था। चार मील के घेरे में हजारों हरिण इकट्ठे कर लिये गये। अकबर ने स्वयं दरबारियों को साथ लेकर पांच दिन तक लगातार शिकार किया और एक भी हरिण को बाहर नहीं निकलने दिया गया। इस प्रकार की शिकार लड़ाई के अभ्यास के लिये अच्छी समझी जाती थी। शाह तहमास्प, ईरान ने भी हुमायूं के प्रवास के समय जब वह ईरान में मेहमान था, इसी प्रकार के शिकार का आयोजन किया था।

अकबर को शिकार के लिये चीते का बड़ा शौक था। चीतों को पिंजड़े में रखकर अभ्यास कराया जाता था ताकि वे उसके रखवालों की आज्ञा मानें। अभ्यास के बाद वे हरिण, सांभर आदि की शिकार मार कर ले आते थे। चीतों को अकबर ने आठ श्रेणियों में विभाजित किया था। उनकी श्रेणियों के मुताबिक ही उन्हें खुराक दी जाती थी। उनकी पीठ पर पट्टी बांधकर गाड़ी में बैठाकर ले जाते थे और मौके पर पहुंचकर उनकी पट्टी खोल दी जाती थी। एक चीते ने हरिण को पकड़ने के लिये बहुत बड़ी खाई पार की। इस पर उसको चीता-ए-खास का खिताब अदा किया गया। उस चीते की इज्जत-अफज़ाई में सवारी के समय नक्कारे बजाये

जाते थे। अकबर का कहना था कि चीता चालाक, डरावना और शेर से भी खतरनाक होता है। वह पेड़ पर चढ़कर शिकार पर कूद पड़ता है और बहुत धोखेबाज होता है।

नूरजहां को शिकार का बड़ा शौक था। उसने हाथी पर बैठकर बन्दूक की नाल से शेर को मार दिया था और इस पर जहांगीर ने प्रसन्न होकर मोतियों की पहुची उसे उपहार में दी। जहांगीर और अकबर दोनो ही को हाथियों व जानवरो की लडाई देखने का व शिकार का शौक था। नूरजहां ने एक बार गोली से 6 शेर एक साथ मारे थे। नूरजहा के शौहर शेर अफगन को शेर से कुश्ती लड़कर शेर मारने पर ही बदले में यह खिताब जहांगीर द्वारा मिला था।

मुगलों के समय में शिकार करने की नाना विधियां प्रचलित थी। सिंह के शिकार के लिये लोहे के छड़ो का एक पिंजडा बनाया जाता था। उसे शिकारी लोग उस स्थल पर रखते थे जहां सिंह आते-जाते थे। पिंजड़े का द्वार खुला रहता था परन्तु वह ऐसा बना होता था कि तनिक से कम्पन से वह बन्द हो जाता था। पिंजड़े के भीतर एक बकरा इस प्रकार बांधा जाता था कि सिंह उसको देख तो सकता था परन्तु बिना भीतर प्रवेश किये हुये उसको पा नहीं सकता था। सिंह ज्योंही पिंजड़े में घुसता त्योंही पिंजड़ा बन्द हो जाता था।

जहां सिंह आते-जाते थे वहां एक भेड़ बांध दी जाती थी और भेड़ के चारों ओर पृथ्वी पर सूखी घास और छोटे-छोटे पूले रख दिये जाते थे। इन पूलों को बरगद और पीपल की गोंद से ढक देते थे। सिंह झपटता हुआ आता और पूलो पर पंजा मारता था। गोंद उसके पंजो में चिपक जाती थी। जितना ही वह गोंद को छुडाने का प्रयास करता था उतना ही गोंद उसके पैर मे चिपक जाती थी। जब वह एकदम थक कर बेसुध हो जाता तब शिकारी झाड़ियों से निकल कर उसे पकड़ लेते थे।

एक अन्य विधि में शिकारी भैंसे पर सवार होकर सिंह के सामने जाता था। भैंसा सिंह को अपने सींगो पर रख लेता था और उसको इतना ऊपर उछालता था कि गिर कर सिंह मर जाता था। चीतों को पकडने की भी नाना विधियां काम में ली जाती थीं। शीत ऋतु में इन पशुओं मे कामोद्दीपन के समय मादा चीता को जंगल मे ले जाया जाता था ताकि उसे देख कर कई चीते उसके पीछे दौडते थे और छुपे हुये गड्ढे में गिर पडते थे जिन्हें पकड़ कर पालतू बना लिया जाता था।

चीता जिस वृक्ष की छाया में विश्राम करता था उसकी जड़ में फन्दे या जाल लगा दिया जाता था। जब चीता शरीर खुजलाने के लिये तने के पास आता

था तब वह जाल में फंस जाता था। मुगल युग में शिकारी चीतों के लिये जरबक्त की झूलें, हीरे जवाहर जड़ी हुई जन्जीरें, मोटे कम्बल और बैठने के लिये गुशकानी कालीन दिये जाते थे। चीतों के सेवकों के निरीक्षण के लिये दरबार के अमीर नियुक्त किये जाते थे। शिकारागारों में अनेक चीते रखे जाते थे। हाथी के हर तरफ एक मिहाफा होता था और हर मिहाफे में एक शिकारी चीता बैठाया जाता था जो चतुराई से जानवरों का शिकार करता था। इस तरह मिहाफे ऊटों, घोड़ों और खच्चरों पर भी कसे जाते थे। उन्हें घोड़ों पर भी बैठाया जाता था। कभी-कभी कहार भी चीतों को डोलियों में ले जाते थे। शिकारी कुत्ते काबुल से मंगाये जाते थे। कुत्तों को जेवरात पहनाये जाते थे। कई कुत्ते मिलकर शिकार पर आक्रमण करते थे विशेषकर सूअरों पर। राजपूत भी कुत्ते पालते थे और शिकार के लिये उनका उपयोग करते थे।

हरिण के शिकार की भी नाना विधियां काम में ली जाती थी। शिकारी एक ढाल या टोकरी को उल्टा पकड कर उसकी आड़ में दीपक प्रकाशित करता था और घंटा बजाता था। दीपक का प्रकाश और घंटे के शब्द हिरण को उस स्थान की ओर आकृष्ट करते थे और पीछे छुपे हुये शिकारी उसको बाण से मार देते थे। इस विधि को 'घंटाहेरा' कहते थे। "घंटाहेरा" के दृश्य प्राचीन चित्रों में देखने को मिलते हैं। एक दूसरी विधि में शिकारी सिर से पांव तक अपने शरीर में छोटी-छोटी हरी टहनियां बांध लेते थे और अपने धनुष भी छुपा लेते थे। हरिण को वृक्ष का धोखा होता था और वह ज्योंही वहां छुपे हुये जाल की तरफ जाता था शिकारी उसे मार लेते थे। मैदान में हिरण को बांध कर भी हरिण को आकृष्ट किया जाता था और जब मृग निकट आता था तो उसके पांव छुपे हुये जाल में फंस जाते थे।

मुर्गाबियों का शिकार भी बड़ा मनोरंजक होता था। मुर्गाबी के चमड़े से एक कृत्रिम पक्षी डैने, चोंच, दुम सहित तैयार किया जाता था जिसकी आंखों के स्थान पर दो छेद होते थे। शरीर खोखला होता था। शिकारी उसमे अपना सिर डाल कर पानी में खड़ा होता था, पानी गर्दन तक होता था। शिकारी पानी में सावधानी से छेदों में से देखता हुआ आगे बढ़ता हुआ पक्षियो के पास जाता था। पक्षी उसे सचमुच का पक्षी समझ कर उसके पास आ जाते थे और वे एक-एक कर पकड़ लिये जाते थे।

कभी-कभी बाज मुर्गाबी को पानी में डुबो कर उसकी पीठ पर बैठ जाता था और शिकारी निकट पहुंच कर उसे पकड़ लेता था।

राजस्थान ही भारत का वह प्रदेश है जहां शौर्य और शिकार की गाथाएं लोकगीतों और साहित्य की एक-एक पंक्ति में वर्णित है। मुगल काल जैसी घटनाएं राजस्थान में प्रतिदिन होती रही हैं क्योंकि बलिदान और अदम्य साहस यहां के खून में समाया हुआ है। राजस्थान के रेगिस्तानी और पहाड़ी दोनों ही इलाके शिकार के लिये उपयुक्त थे। उत्तर पश्चिमी इलाकों में हरिण और सूअर बहुतायत से मिलते थे और दक्षिण पूर्वी भाग जंगलों से भरा हुआ था। आबू पर्वत से लेकर कुम्भलगढ चम्बल घाटी होते हुए मध्य प्रदेश की सीमा झालावाड़ तक घने जंगल थे जो शिकार के लिये उपयुक्त थे। सवाई माधोपुर से झालावाड़ तक के जगल कोटा और बूंदी के राजाओं के शिकार हेतु अधिक आकर्षण के केन्द्र रहे होंगे। आज भी दरा (कोटा), सिरस्का (अलवर), घना (भरतपुर) के घने जंगलों वाले क्षेत्र इस बात के प्रमाण हैं कि वे शिकार के उपयुक्त रहे होंगे। आज वे बदलकर सुरक्षित क्षेत्र हो चुके हैं। आमेर, रामगढ, ओदी-रामसागर, बैराठ, नाग पहाड़, तारागढ़, बर का घाट, गोड़वाड़, देसूरी क्षेत्र शिकार के लिये उपयुक्त थे। शिकार पशु-पक्षियों और जल-प्राणियों की होती थी। पशुओं में हाथी, जंगली गधा, पहाड़ी बकरा, गैंडा, शेर, तेन्दुआ, चीतल, चीता, जगली सूअर, साम्भर, हरिण, रीछ, नीलगाय, जंगली भैंसा, चिकारा, पाडल, भेड़ल, खरगोश शिकार के काम आते थे।

पक्षियो मे तीतर, बाशा, हरियल, बटेर, बतख, जलमुर्गी, कुर्ज प्रमुख होते थे। जल-प्राणियों में मगर, कछुआ और सब प्रकार की मछलियां काम आती थी। शिकार के लिये प्रयोग में लाये जाने वाले शस्त्र तलवार, छुरी, कटार, भाला, पेशकब्ज, जम्मड़या, ढाल, धनुष, बन्दूक और पिस्तौल, अवसर देखकर काम में लाये जाते थे। शिकार के लिये सवारियां भी काम आती थी जिनमें हाथी, घोडा, ऊंट, बैलगाड़ी, नाव, तख्तेरवां, पालकी, तामझाम के नाम गिनाये जा सकते हैं। शिकार के लिये जानवरों को भी अभ्यस्त किया जाता था जिनमें बाज, शिकरा, चीता, कुत्ता, बड़े अभूतपूर्व कार्य करते थे। शिकारों की विधियां, पशु-पक्षी, शिकार के समय की पोशाक, शिकार के स्थल, जंगल, शस्त्र और अन्य औपचारिकताओं के बारे में चित्रों से ही जानकारी मिलती है। राजस्थान में सभी चित्र शैलियों में शिकार का अकन हुआ है परन्तु कोटा और बूंदी शैलियों में उसका आधिक्य है। बूंदी के राव रतन, भावसिंह, बुद्धसिंह, उम्मेदसिंह सभी राजा शिकार में भाग लेते थे और चित्रों मे उनका अंकन उपलब्ध होता है। कोटा के महाराव छत्रसाल, माधोसिंह, जगतसिंह, उम्मेदसिंह, भीमसिंह, किशोरसिंह, रामसिंह द्वितीय, उदयपुर के महाराणा अरिसिंह, भीमसिंह, संग्रामसिंह, जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह और मानसिंह के समय शिकार के चित्र खूब बने। भारतीय परम्परा के अनुसार साधारण जीवन के चित्रण करना वर्जित था। यह परम्परा मुगलों के समय मे प्रारम्भ हुई।

इनके समय में चित्रकार स्वयं शिकार स्थल पर जाते थे और वहीं बैठकर दृश्य को देखकर चित्र बनाते थे। यही परम्परा राजस्थान में अपनाई गई। इसी कारण चित्रों में बड़ा यथार्थ मिलता है। शिकार के चित्र अठारहवीं शती में अधिक बने।

श्री गोपीकृष्ण कानोडिया, पटना के संग्रह से कोटा शैली का एक चित्र डगलस बैरट की भारतीय चित्रकला पुस्तक में प्रकाशित हुआ है जिसमें रामसिंह प्रथम द्वारा शेर के शिकार का दृश्य है। ओदी चारों ओर से बांसों के जगल से ढकी है और सामने छोटा जलाशय है जिसमें शेर पानी पीने आया हुआ है। पेड़ से भैंसा बंधा हुआ है। हरिण गोली की आवाज से भाग रहे हैं। एक शेर मर चुका है व दूसरा गरज कर उछल रहा है। रामसिंह मखमल के नीले चोगे में दिखाये गये हैं जो गोली चला रहे हैं। ओदी के चारों ओर का दृश्य बहुत ही सजीव है जिसमें सूखे पेड़ों और चट्टानों का यथावत् चित्रण है। श्री डबल्यू. जी आर्चर ने कोटा के शिकार के चित्रों की प्रशंसा की है। रानियां भी बन्दूक से शेर का शिकार करती दिखाई गयी हैं। ऐसा एक चित्र आर्चर की पुस्तक में प्रकाशित है जो बूंदी शैला का 1840 ई. का सुन्दर प्रमाण है। यह क्लीवलेण्ड म्यूजियम के संग्रह में है।

बाज भी शिकार करता था। इसकी पुष्टि आर्चर की पुस्तक में बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह के चित्र से होती है जिसमें बाज कुर्जों को मार कर ला रहा है।

श्री विजयवर्गीय के संग्रह मे बीकानेर शैली के राजा गोपालदास माचेड़ी के बड़े सुन्दर चित्र हैं जिनमे वह हरिण, सूअर व बतखों की शिकार कर रहा है। एक अन्य चित्र में रानिया हरिण का शिकार कर रही हैं। यह चित्र बीकानेर शैली के उत्तम चित्र कहे जा सकते हैं। चित्रो को देखने से पता चलता है कि शिकार के समय मूंगियां रग के कपड़े पहने जाते थे। यहाँ तक कि शिकारी अपने आपको पत्तों से ढक लेता था ताकि जानवर संशकित न हो। घुटने तक चमड़े के मोजे पहन कर पाजामे की मोहरी को उनमें डाल लेते थे। पगडियो को जाड़िये से बांध लेते थे ताकि घोड़ों पर भागने के समय गिर न पड़ें। वस्त्रों के ऊपर जिरह बख्तर, कोठा, चहलता, कन्टोप और दास्ताने पहन लिये जाते थे पर विशेषकर भयंकर पशुओं की शिकार के समय कमर बन्ध में ढाल, तलवार, कटार सब लगे होते थे।

एक चित्र भानू कलाकार का है जिसमे कोटा क्षेत्र का प्राकृतिक-चित्रण किया गया है। सम्पूर्ण चित्र में संध्या की लालिमा दिखलायी गयी है। ऊपरी भाग चट्टानों से भरा है जिसमे शेर दहाड़ रहे हैं। निम्न भाग में शिकार की ओदी है

जिसके चारों ग्रोर पानी है। ग्रोदी पेड़ों से घिरी है ताकि जानवरों को वृक्षों का ही भान हो। जंगल मे हरिणों का भागना, डरना, सिमटना बहुत ही स्वाभाविक दिखलाया गया है। दृश्य में एक ग्रोर सूग्रर भी खुले मैदान की ग्रोर भाग रहे हैं।

कोटा शैली का 1740 ई. का महाराव उम्मेदसिंह का एक चित्र है जो वृक्ष पर छुप कर बैठे हैं। नीचे जाल बंधे हैं। बीच में पानी ग्रौर चारों ग्रोर सघन जंगल है। निम्न भाग में चट्टाने हैं। चित्र के ऊपरी भाग में हाथी घोड़े ग्रौर सवार हाका करते पहाड़ के पीछे होकर शिकार स्थल पर ग्रा रहे हैं। दायीं ग्रोर बहुत सारे सिपाही मिलकर एक शेर पर भालों से प्रहार कर रहे हैं। घोड़ो पर बैठ कर पुरुष वेशभूषा में भालों से सूग्ररो की शिकार का 1760 ई. का कोटा शैली का चित्र स्पष्टतया प्रमाण है कि स्त्रियां भी ग्रकेली शिकार किया करती थीं।

ग्रन्य एक चित्र में शिकारियों ने मूंगियां रंग के कपड़े पहन रखे हैं ग्रौर हरिण का शिकार कर रहे हैं। राजा का जामा नीचे तक लटक रहा है। एक शिकारी ने हरे पत्तो की टाटी की ग्राड़ कर रखी है ताकि हरिणों को शिकारी दिखायी न दे।

राजा भोज का 1740 ईस्वी कोटा शैली का सूग्रर के शिकार का दृश्य है। चित्र के ऊपरी भाग में रेतीला भाग दिखाया गया है। बांयी ग्रोर बांसों का झुरमुट है तथा बीच में वृक्ष के नीचे पोखर है। जिसमें मुर्गाबियां तैर रही हैं। घोड़े के वेग को दिखाने के लिये कलाकार ने राजा के कपड़े ग्रौर घोड़े के झुमके उड़ते हुए दिखलाये हैं।

उम्मेदसिंह का 1777 ईस्वी का मचान से बन्दूक द्वारा शेरो को मारने का दृश्य है जबकि शेर जाल में घिर चुके हैं। एक शेर उछल कर पेड़ के ऊपर तक खड़ा हो गया है। बांयी तरफ नीचे मचान पर दो व्यक्ति सूग्ररो को निशाना बना रहे हैं। हरिण भी भाग रहे हैं। नीचे नदी में मगर व मछलियां दिखलाई गई हैं। बूंदी के रंग विलास में सांठमारी के दृश्य देखने को मिलते हैं जिनमें हाथी सूंड से घोडों को पकड़ रहे है।

इसी प्रकार कार्ल खण्डालवाला की पुस्तक कोटा चित्रकला में कोटा के राजाग्रों की शिकार के ग्रनेक चित्र दिये गये हैं। जब राजस्थान की ग्रन्य शैलियो में नायिकाग्रो के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण करने में कुशलता समझी जाती थी, कोटा में वही लावण्य, सजीवता व कुशलता शिकार के चित्रो मे लाई गई। कोटा के

छतर महल, बड़ा महल, अर्जुन महल, झाला हवेली में भित्ति चित्रों में बहुलता से शिकार के चित्र उपलब्ध होते हैं।

उदयपुर के चित्रों में महाराणा अरिसिंह, संग्रामसिंह एवं भीमसिंह के सभी प्रकार के शिकार के दृश्य देखे जा सकते हैं। जिन पर भीखा, साहजी, भीमा और जुगारी के नाम प्राप्त होते हैं। यह भी चित्र श्री संग्रामसिंह के संग्रह के हैं।

किशनगढ़ शैली में शिकार के चित्र बहुत कम बने हैं। रूपमती बाज बहादुर (संग्राम सिंह संग्रह) और सूअर के शिकार के दो चित्र (विजयवर्गीय संग्रह) महत्वपूर्ण हैं। रूपमती बाज बहादुर के चित्र में चीतों की झुककर भागने की प्रवृति को बहुत ही कुशलता से प्रदर्शित किया गया है। सम्पूर्ण चित्र की पृष्ठभूमि को हरी दिखायी जाकर जंगलों की अनुरूपता प्रदान की गयी है।

वर्त्तमान में तो शिकारों पर प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। पशु पक्षियों के लिये कितने ही अभयारण्य क्षेत्र बना दिये गये हैं। जहां पशु पक्षी निडर हो कर वन प्रान्तर में प्राकृतिक परिवेश में रहते है। कितनी ही वन्य प्राणि सुरक्षा संस्थायें बन चुकी हैं जो पशु पक्षियों की जीवन रक्षा के लिये प्रयत्न करती रहती हैं। पशु पक्षियों का राष्ट्रीय घोषित कर दिये जाने पर उनकी सुरक्षा और भी प्रबल हो जाती है।

□

कला—उपयोगिता से प्रशस्त—अस्त्र-शस्त्र

शस्त्रों का इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है, जब मनुष्य आदि अवस्था में भटकता फिरता था। अज्ञान की उस अवस्था में उसके पास रहने को सुरक्षित स्थान नहीं था और उसे अपनी रक्षा हिंस्र पशुओं से भी करनी पड़ती थी। पेट भरने के लिये जानवरों को मारने का प्रयत्न करना पड़ता था। मनुष्य को अपनी रक्षा और क्षुधा-निवारण के लिए सबसे पहले शस्त्र का बोध हुआ। पत्थरों को कांट-छांट तथा पैना बनाकर शस्त्रों का आविष्कार किया गया। इसी कारण प्रारम्भिक युग को पूर्व पाषाण-काल, मध्य पाषाण काल तथा उत्तर पाषाण काल में विभाजित किया गया है। पूर्व पाषाण काल के हथियार भोंडे और मोटे होते थे, मध्य पाषाण काल में चिकने पालिशदार छोटे हथियार बनने लगे। तदनन्तर सभ्यता के आगमन के पश्चात् ताम्र-शस्त्र बनाये गये और आर्यों के आ जाने पर तो विविध रूपों के शस्त्र निर्मित होने लगे।

ऋग्वेद में आयुधों का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है—"स्थिरां वः संत्वायुधा पराणद वीलू उत प्रतिस्कभे"। उस समय ऋषि यज्ञ-रक्षार्थ आयुध रखते थे—"ऋषि आभस्वायुधाम"। वैदिक समय से सूर्मी, यीपू और धनु कई आयुध काम आते थे।

सूर्मी ऐसा शस्त्र था, जिसके एक बार चलाने से ही लगभग सौ मनुष्यों की मृत्यु हो सकती थी। नालिका भी आधुनिक बन्दूक के समान एक नालिका वाला शस्त्र होता था, जिसमें कई प्रकार की चीजें भरकर चलायी जाती थी। द्रुघण और परशु लगभग एक ही प्रकार की चीजें होती थी, जिसे हम फरसा कहते हैं। चक्र, गदा, मुग्दर और पिनाक आदि की कितनी ही महत्वपूर्ण कथाएँ हम अपने धर्म-ग्रंथों में पाते हैं। विष्णु का चक्र, हनुमान की गदा, यमराज का मुग्दर और पाश तथा शिव का पिनाक प्रख्यात हैं। असि के अन्तर्गत खड्ग और तलवार जैसे सभी शस्त्र आ जाते थे। नाराच ऐसा तीर होता था, जो समूचा लोहे का बना होता था।

तीरों द्वारा शोषण और प्रशमन आदि कार्य किये जाते थे। तीरों द्वारा रणभूमि में आग लगाई जा सकती थी तो दूसरा पक्ष तीरों द्वारा आग को बुझा

भी सकता था। एक-दूसरी ओर से चलाये गये तीरों का प्रवाह तीरों से काटा भी जा सकता था। धनुर्विद्या, शस्त्रविद्या का प्रमुख अंग थी। यहाँ तक कि ऋग्वेद में धनुर्वेद नामक का एक पृथक् प्रकरण है। गुरुओं के आश्रम में रहकर विद्यार्थी सामान्य विद्या के साथ-साथ शस्त्र-विद्या भी ग्रहण करते थे। एकलव्य, अर्जुन, लव और कुश जैसे पराक्रमी बालकों की शस्त्र विद्या सम्बन्धी अनेक कथाएं भारत मे बच्चा-बच्चा जानता है।

भारत के अन्य भागों की अपेक्षा राजस्थान में नाना प्रकार के शस्त्रों का विशेष तौर पर निर्माण किया गया। उदयपुर, जयपुर, अलवर, सिरोही, बूंदी और जोधपुर में शस्त्र बनाने के कारखाने थे और सैकलगर लोग राज्याश्रय में रहकर अपनी कला का उपयोग करते थे। तलवार, छुरी, कटार, खाण्डा, बल्लम, बर्छी, भाला, ढाल, जिरह, बन्दूक, तीर-कमान आदि शस्त्र राजस्थान में मुख्यतः बनाये जाते थे। बनावट की दृष्टि से इन शस्त्रों को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है—धार, ओट, चोट, अणी और अवसान। धार वाले शस्त्रों में किर्च, खड्ग, खाण्डा, जफर तकिया, आरादम, मोती पुड़ा, ऊना, गिलोटा, दाव, कुकड़ी, चप, तेगा, सूदेट और दमतमाचा आदि तलवार के ही अनेक रूप हैं। ये समस्त शस्त्र प्रहार के काम में आते हैं।

असि—(तलवार) भारत का प्राचीनतम शस्त्र है। तलवार की उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि देव और दैत्यों में एक संग्राम हुआ था, जिसमें दैत्यों ने विजय प्राप्त की थी। देवताओं ने आकर ब्रह्मा की स्तुति की और कहा कि सुरों को असुरों से बचाइये। ब्रह्मा ने हिमालय पर एक बलि यज्ञ किया, जिसमें तलवार की उत्पत्ति हुई। यही तलवार ब्रह्मा ने शिव को प्रदान की और उन्होंने इससे असुरों का संहार किया।

भारतीय तलवारों के फल नोंकदार, मूठ की ओर ऊपर से किंचित चौड़े तथा नीचे से पैने होते हैं। पतले और हल्के फल वाली तलवार सुन्दर होती है।

किर्च का फल संकरा और सीधा होता है दस्ता पनाहदार और सादा भी होता है। खड्ग का फल लम्बाई में कम और चौड़ाई में अधिक होता है और बहुत भारी होता है।

खाण्डे का फल भारी और अधिक चौड़ा होता है, जो झटके से प्रहार के काम आता है।

जफर तकिया का फल छोटा और दस्ता चपटा होता है, जिसे सुरक्षा के लिये तकिये के नीचे लगा कर सोया जा सकता है। आरादम के फल में करौंत की

तरह दांते पड़े होते हैं। ऊना का फल संकरा होता है। यह दिल्ली का बना हुआ प्रसिद्ध होता था। मोतीपुडा के फल में चिराई होती है, जिसमें फौलाद के मोती फंसे होते हैं और तलवार के चलाने से नीचे-ऊपर दौड़ते हुए सुन्दर प्रतीत होते हैं। दाब का फल मुजाली और खड्ग की तरह छोटा और नीचे से चौड़ा होता है तथा दस्ते के पास संकरा होता है। नेपाल के गोरखों की कुकड़ी (खुकरी) का दस्ता छोटा और फल बांकदार होता है। तेगा के फल में खम विशेष होता है। सूदंट का घाट बिल्कुल सीधा होता है और सूदंट मे कौडी से अणी तक खम होता है। दमतमाचा का फल छोटा होता है।

पहले ही बताया जा चुका है कि ये सब धार वाले शस्त्र तलवार के ही नाना रूप हैं, जिनमें किंचित मात्र भेद होने के कारण इन्हें भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इनके फलों के भिन्न-भिन्न घाट हैं, जिन्हें घाट सिरोही, घाट हुसैनी, घाट पूर्वी और घाट पश्चिमी नामो से कहा जाता है। इसी प्रकार दस्तों के भी भिन्न-भिन्न नाम या शैलियां हैं—आलमगीरी, जोधपुरी, किरणशाही, रावशाही, छीकेदार और पनाहदार आदि। ये दस्ते लोहे के, हाथी दांत के या मछली के दात के बने होते हैं, जिन पर नाना प्रकार का अलकरण का काम होता है। विशेष रूप से सुनहरी-रूपहरी तारों की जड़ाई, जिसे तह निशां और कोफ्त कहा जाता है, लोहे के दस्तों पर अधिक मिलती है।

अणी वाले शस्त्र—अणी वाले शस्त्रों में छुरी, कटार, बिछुआ, जमधर, खंजर, पेशकब्ज, शाहपसन्द, कमा, तीर, भाला, बर्छी, बल्लम और सांग शस्त्रों की गिनती है। छुरी का फल सीधा, छोटा और नोंक पर किंचित खमदार होता है। कटार के फल में दोनों तरफ धार होती है तथा दस्ते की जगह दो लोहे की ताड़ियां होती हैं, जो बीच मे भोगली नाम की पकड़ने की चीज से मिलाई जाती है। कटार को भोगली के स्थान से मुट्ठी में पकड़ कर भोंक दिया जाता है। जिस छुरी का फल नोक पर बिच्छू के डंक के समान मुड़ा होता है वह बिछवा कहलाती है।

खंजर—इसमें पुश्त नहीं होती और नोक पर खम होता है—धार भी दोनों तरफ होती है। इसका भी फल छुरी जितना ही लम्बा होता है। कमां और छुरी का भेद बहुत सूक्ष्म होता है और पहचानना अति कठिन होता है तथा धार एक ही तरफ होती है। पुश्त पर कणा निकला होता है, और फल में खम नही होता। दस्ता सीधा और लकड़ी, दात या धातु का होता है, जिसे पकड़ कर भोंक दिया है। भाला, बर्छी और बल्लम के फल बहुत छोटे होते हैं, जिनमे विशेष अन्तर एक-दूसरे में नहीं होता। भाले का फल चपटा एवं बल्लम और बर्छी का लम्बा और

गोल होता है। ये फल सात-आठ फुट लम्बे बांस के एक दस्ते में लगे होते हैं जिन्हें दूर से फेंक कर भोंका जाता है और पास से भी।

सांग—इसका फल भी भाले जैसा ही होता है। परन्तु फल और छड़ दोनों समूचे लोहे के बने और भारी भी होते हैं ताकि इशारे के साथ फेंकते ही शरीर में आर-पार हो जाते हैं। बर्छी, बल्लम, भाला और सांग चारों ही प्राचीन शस्त्र हैं। बाण धनुष पर रखकर चलाया जाता है। इसका फल भी छोटा और कितने ही आकारों का, जैसे तिकोना, चन्द्राकार, दुफला इत्यादि होता है। बाण विष में बुझाये हुए भी होते हैं और उनके द्वारा कितने ही प्रकार की मारक क्रियाएं प्रसिद्ध हैं।

जागनोल—यह कुदाली के आकार का शस्त्र होता है। केवल इसका फल चोंच के आकार का आगे से तीखा होता है। जिरहबख्तर को अन्य कोई हथियार नहीं काट सकता पर जागनोल इसी काम में आता है क्योंकि उसका तीखा फल जिरह की कड़ियों में घुस कर उन्हें काट देता है। ओट के अन्तर्गत ढाल, जिरह, कोटा, टोप, चलहना, दस्ताना आदि आते हैं।

ढाल—यह गैन्डे, कछुए, भैंस या मगर की खाल या फौलाद की होती है जिस पर शस्त्रों का प्रहार कोई काम नहीं कर पाता। ढालों को सुन्दर बनाने के लिए कितने ही प्रकार की कारीगरियों से अलंकृत किया जाता है। फौलाद की ढालों को सुनहरी या रूपहरी कोफ्त के काम से सजाया जाता है या कभी-कभी उनमें जवाहरात की जड़ाई का प्रयोग भी किया जाता है। ढालों के पीछे पिस्तौल भी लगाई जाती है। गोली निकालने के लिए ढाल के बीच में सूराख रख दिये जाते हैं। शत्रु नहीं समझ पाता कि ढाल जो बचाव के लिये काम ली जा रही है पिस्तौल युक्त है और अचानक उसमें से गोली निकल कर शत्रु को समाप्त कर देती है।

जिरह—इसे लोहे की कड़ियों से गूंथ कर वस्त्र की तरह मुलायम बनाया जाता है जिसे शरीर पर कमीज की तरह पहनने के पश्चात् धार वाले शस्त्रों से बचाव होता है। जिरह के साथ पैजामे भी कड़ियों के होते हैं। दास्ताना, कोठा और टोप फौलाद या सादा लोहे के होते हैं, जो हाथ, छाती और सिर पर पहनने के काम में आते हैं। गैटिस घुटनों पर बांधे जाते हैं। कन्धे पर छोल लगाये जाते हैं, जिससे कन्धों पर प्रहार से बचाव सुगम होता है। टोप ऐसा भी होता है जिसमें सारा चेहरा ढक जाता है जिसमें सब जगह कीलें जड़ी रहती हैं और छाती व बाजुओं पर लोहे के फलक जड़े रहते हैं जिससे इन हिस्सों का विशेष रूप से बचाव

हो जाता है। नीचे जिरह पहन कर ऊपर चहलता पहना जाता है जिससे जिरह पर कोई असर तुरन्त न पहुँच सके। जिरह, कोठा, टोप, चहलता पहने जाते हैं, इनको पहनने के पश्चात् मणों वजन योद्धा के शरीर पर लद जाता है। जिरह बख्तर का प्रयोग बन्दूक के आविष्कार के साथ-साथ समाप्त हो गया है। चोट वाले शस्त्रों में मुग्दर, गदा, घूंसा, दण्ड और फरसे होते हैं। मुग्दर और गदा इतने साधारण शस्त्र हैं कि प्रत्येक इनसे परिचित है। यह बहुधा सिर पर चोट करने के काम में आते हैं।

घूंसा—यह हाथ की अंगुलियो में पहना जाता है। यह लोहे का होता है और मुट्ठी बांध घूंसे की तरह चोट करने के काम मे आता है। यह घूंसा खा लेने के बाद शायद फिर कोई सांस आना तो सम्भव ही नही हो सकता। फरसा अर्द्ध-चन्द्राकार या कुदाली के आकार का धार वाला शस्त्र होता है जो लकड़ी के दस्ते मे लगा होता है और चोट के काम में आता है। वैसे यह धार वाले शस्त्रो में गिना जाता है पर इससे प्रहार द्वारा चोट की जाती है। इसलिए चोट वाले शस्त्रो के अन्तर्गत गणना उपयुक्त हो सकती है।

नागफांस—यह प्राचीन पौराणिक शस्त्र है जो मोटे लोहे के एक ही तार के तीन घेरो से बना होता है जिनका छोर लोहे के दण्ड में होता हुआ नीचे निकला होता है। नागफांस के बीच के घेरे को शत्रु की गर्दन में डाल दिया जाता है। जब शत्रु अपने हाथ बराबर के दो घेरों मे रखकर गर्दन के बीच का घेरा निकालने का प्रयत्न करता है तो तुरन्त तार के नीचे के छोर को खीच लिया जाता है और शत्रु की गर्दन व हाथ उन घेरों मे फस जाते हैं।

बघनखा—बाघ के नाखूनों से निर्मित एक शस्त्र होता है, जिससे जिस्म को चीर दिया जाता है।

मुगल विजेता बहादुर होने के साथ सुरुचिपूर्ण भी थे, इसलिए उनके समय में कलाओ की भांति शस्त्रो को भी कारीगरियों से अलंकृत किया गया। कहीं-कहीं तो शस्त्र उपयोग की वस्तु न होकर केवल कारीगरी या सजावट की वस्तु बना दिये जाते थे। काम कोफ्त जड़ाई आदि कर उन्हें अमूल्य और सुन्दर बना दिया जाता था, शस्त्रो के दस्ते कीमती पत्थरों और धातुओं से बनाये जाते थे। इन कलाओं के उत्थान से इस प्रकार के काम करने वाली जातियों के निर्माण हुए जो नित्य अपने कौशल का परिचय देती थी और पुरस्कृत होती थी। शाही सिलेहखानों में म्यानगर, सिकलगर, कोफ्तगर कितने ही वर्ग काम करते थे। मुगल सम्राट और उनके सामन्त शस्त्र पहचानने की कला मे निपुण होते थे। मुगल सम्राटों के समय

उनके प्रयोग में आने वाली तलवारें खासा समशीर कहलाती थी जिनमें से प्रतिदिन एक उनके शयनागार में भेजी जाती थी और पहली वाली तलवार वापस लाई जाती थी और अन्त पुर के बाहर कर्मचारी उनको रखते जाते थे। इनके अतिरिक्त दूसरी तलवारें तैयार रखी जाती थीं उनको कोतल कहते थे। जमधर और खपवा भी रखे जाते थे। 'मशहूदी' और 'मदायन' धनुप काम में लाये जाते थे। बादशाह सवार होकर बाहर जाते थे तो अमीरजादे मनसबदार और अहदी शस्त्रों को अपने हाथों और कन्धों पर रखकर चलते थे। इनके अतिरिक्त नेजा, वर्छी, कुल्हाडी. कमाने गुरोहा, कुतक, सन्दली भी क्रम से और नियमानुसार उनके द्वारा रखे जाते थे। ऊंटों और खच्चरों की कई कतारें विभिन्न प्रकार के हथियारो से लादी जाती थी। मीर बख्शी उनकी देख-रेख और सहायता करते थे। जब बादशाह शिकार के लिए जाते थे तो कुछ तेज दौडने वाले लोग उनके साथ होते थे। उस युग के कुछ अन्य ऐसे शस्त्र भी होते थे जिनके नामों से आज परिचय भी नहीं है जैसे फैकानकरा, सेंथी, सेलरा, गुर्ज, शशपर, तबर, कमाने गुरोहा, कमठा, तुफकेदहान, पुश्तखार, शस्तावेज, गिरिह कुशा, गोभन, गजबाग, उदाना, दुबुल्गा, जोशम, कण्ठ-शोभा, कपका इत्यादि।

बन्दूक और पिस्तौल में सबसे पहली शुरुआत पत्थर कला नाम से हुई जो पत्थर के टुकडे की रगड़ से आग पैदा कर बारुद के जरिये गोली चला दिया करती थी। पत्थर कला के पश्चात् टोपीदार और कारतूसी बन्दूकों का इजाद हुआ। बन्दूकों की फौलाद की नालों पर सुन्दर नक्काशी का काम होता था। लम्बी नाल की बन्दूकें जज़ायल किलो के परकोटों के सूराखों मे से चलाई जाती थी। रहंकले और शेरबच्चे ऊंटों पर से चलाये जाते थे। अंग्रेजों के आगमन और मशीन युग का प्रारम्भ होते ही समस्त हथियार म्यानों में बन्द कर खूंटियो पर टांग दिये गये या अजायबघरों में देखने के वस्तु मात्र रह गये। ब्रिटिश युग में अंग्रेज अधिकारियों के रियासतों मे आने पर उनके लिए शिकार के प्रबन्ध किये जाते थे। लाखों पशु-पक्षी उनके मनोरंजन हेतु राजा जागीरदारों ने मार दिये। शस्त्रों के माध्यम से संस्कृति का एक युग समाप्त हुआ जब मनुष्य सर्वदा एक दूसरे के बल पौरुष से सशंकित रहता था और अपने को उनसे आने वाली विपत्तियों के विरुद्ध तैयार रखता था।

□

संगीत

संगीत हृदय की भाषा है। वह मानव मात्र की सहज स्वभाव सिद्ध स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्ति है। पशु तक भी संगीत के वशीभूत हो जाते हैं। आदि-काल में ही जब मनुष्य बर्बर था, अपनी उल्लसित अभिव्यक्ति के लिये संगीत का सहारा लेता था। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों को हमारे शास्त्रकारों ने संगीत कहा है "गीतम् वाद्यं तथा नृतंत्रयं संगीतमुच्यते" इनमें से गीत प्रधान है। मनुष्य पहले कण्ठ से गाता है और किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ती इसलिये इसका स्थान कला से ऊपर रखा गया है। स्वर और लय गीत के मुख्य अग हैं। लय और ताल के आधार पर नृत्य होता है। वैदिक काल में भारतीय संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। सामवेद की ऋचायें एक व्यवस्थित नियम से गाई जाती थी। वैदिक काल मे संगीत के सातों स्वर आविष्कृत हो चुके थे। सात स्वरों के समूह को सप्तक कहते है। स्वरों के तीन स्थान हैं—मंद्र, मध्य और तार। जो स्वर सबसे नीचा सुनाई पड़ता है और नाभिदेश से व्यक्त होता है वह मन्द्र स्थान का स्वर है। जो उससे ऊंचा सुनाई पडता है और कंठ से व्यक्त होता है वह मध्य स्थान का स्वर जो उससे भी ऊंचा सुनाई देता है वह तार स्थान का स्वर होता है। स्वर सात होते है—षडज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, धैवत और निषाद जो पशु-पक्षियो के स्वरों से लिये गये हैं। संगीत मे प्रयुक्त होने वाली ध्वनि पंचम को नाद कहते हैं। नाद जो कानों से सुना जा सकता हो उसे श्रुति कहते हैं। श्रुतियों के अनेक भेद माने गये हैं। स्वर शुद्ध और विकृत दोनों होते हैं। संगीत के प्रचलित रागों के आधार पर कोमल और तीव्र स्वर बारह ही प्रयोग मे रहते हैं। जो गीत लक्षणबद्ध हो और देशी रागों में प्रयुक्त हो जिसका उद्देश्य लोक रंजन हो वह गान है। गायन मे आलाप, अन्तरा, तान, गमक, मीड, कम्पन, उत्तरोत्तर प्रयुक्त किये जाते हैं। गायन पहले विलम्बित लय मे किया जाता है फिर क्रमशः मध्य और द्रुत लय मे। तान से राग का विस्तार होता है। आलाप में ताल का प्रयोग नही होता। तान ऐसी होनी चाहिये जो राग के भावो को व्यक्त करती हो।

ध्रुवपद—तान का प्रयोग ख्याल गीत मे होता है। ध्रुवपद में तान नहीं लेते। उत्तरी भारत में जो गीत गाये जाते हैं वे है—ध्रुवपद, होरी, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, तराना। प्रबन्ध की गायकी पूर्वकाल में गाई जाती थी उसके स्थान पर ध्रुवपद गायकी प्रचलित हो गई। ध्रुवपद का अर्थ है निश्चित पद—अर्थात् उसमें पद बंधे होते हैं। ध्रुवपद गायक तोम् नोम् के आधार पर आलाप करता है और स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग क्रमशः विलम्बित लय मे गाता है। ध्रुवपद गाने

के लिये आवाज में दम की आवश्यकता होती है। ध्रुवपद में तान मुर्की का प्रयोग नहीं किया जाता। इसमें वीर, शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता रहती है।

होरी—होरी को धमार ताल में गाते हैं। इसकी कविता में अधिकतर कृष्ण गोपियों की लीला का वर्णन होता है। गायक इसे पहले विलम्बित लय में गाते हैं फिर द्विगुन तिगुन, व चौगुन लय में गाते हैं। आजकल जिस किसी कविता में होली का वर्णन होता है चाहे वह किसी भी ताल में हो उसे "होरी" कह बैठते हैं।

ख्याल—ख्याल का अर्थ है कल्पना। जिस प्रकार ध्रुवपद नियमों से जकड़ा हुआ रहता है उस प्रकार ख्याल जकड़ा हुआ नहीं रहता। गायक भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वर रचना की कल्पना कर सकता है। बादशाह मुहम्मद शाह के दर्बारी गायक सदारंग और अदारंग ने हजारों ख्याल रच डाले जिनको आजकल गायक गाते हैं। ख्याल दो प्रकार प्रकार के होते हैं—बड़ा ख्याल और छोटा ख्याल। दोनों में दो ही भाग स्थायी और अन्तरा होते हैं। बड़े ख्याल की रचना ध्रुवपद शैली पर होती है और विलम्बित में गाया जाता है। छोटा ख्याल तीन ताल में पहले मध्य लय में गाया जाता है फिर लय द्रुत कर दी जाती है। ख्याल की कविता शृंगार रस में होती है।

टप्पा—टप्पा में शब्द बहुत कम होते हैं—तानें अधिक होती हैं। इसमें भी स्थायी, अन्तरा दो ही भाग होते हैं। इसका उद्‌भव पंजाब से हुआ लगता है। इसकी तानें कांपती हुई जाती है और उनमें मुरकी जम जमा इत्यादि होते हैं। टप्पा के गानों में भी शृंगार रस प्रधान होता है।

ठुमरी—इसमें कविता शृंगार प्रधान होती है। इसके बोलों मे लयकारी दिखलाई जा सकती है। इसे मध्य या द्रुत लय में गाते हैं। गायन के साथ इसमे अभिनय भी किया जाता है जिससे भाव में तीव्रता आ जाती है। ठुमरी मे तानें या सरगम नही होती—केवल छोटी मुरकियों से ही इसे सजाते हैं। ठुमरी लखनऊ, बनारस, पटना मे विशेषत: गाई जाती है। इस गायकी को वाजिदअली शाह के समय में अधिक प्रोत्साहन मिला। ठुमरी उन रागो में गाई जाती है जो लोक गीतों के धुन से निकली है जैसे—खमाज, काफी, मांड, पीलू, झिंझोटी इत्यादि। जिन रागो की प्रकृति गंभीर है उनमे ठुमरी नहीं गाई जाती जैसे भैरव, दरबारी, टोडी, शकरा, हिंडोल इत्यादि।

तराना—तराना में कविता नही होती केवल राग और लय का सौन्दर्य रहता है। इनमे दानि, तोम्, नोम् तनोम् इत्यादि शब्द ही होते हैं। ये शब्द स्वर के आधार के लिए ही प्रयोग किये जाते हैं। तराने मध्य या मन्द्र लय मे गाये जाते हैं।

सरगम—भिन्न-भिन्न रागों में स्वरों की तालबद्ध रचना को सरगम कहते हैं। इसके गाने से राग के स्वरों का अच्छा ज्ञान हो जाता है।

ताल—काल गति के नाम को ताल कहते हैं। संगीत के लिये आवश्यक है कि स्वर की काल गति एक नियमित क्रम से चले। ताल गिनने के पैमाने को मात्रा कहते हैं। उत्तरी भारत मे चौताल, एकताल, झपताल, रूपक, दीपचन्दी, त्रिताल, दादरा तालों का प्रयोग होता है। दक्षिण की ताल पद्धति अलग होती है।

वैदिक काल में साम गायन होता था और उस काल में कई वाद्य प्रयोग किये जाते थे। रामायण-काल में मृदग, वीणा, भेरी, दुन्दुभि, पणव, डिंडिम इत्यादि वाद्यों का उल्लेख मिलाता है।

महाभारत युग में सात स्वरो और गधार ग्राम का उल्लेख मिलता है। भरत के नाट्य शास्त्र में, जो सबसे प्राचीन ग्रंथ है, स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्छना और नृत्य पर बहुत कुछ मिलता है। भरत के समय में राग नही थे "जाति" थी। राग का सबसे पहले उल्लेख मतंग के 'वृहद्देशी' में है।

गुप्तकाल में संगीत की पर्याप्त उन्नति हुई। समुद्रगुप्त संगीत का बडा प्रेमी था। कालिदास के ग्रन्थों से तो विदित होता है कि संगीत का समाज में बहुत ही प्रचलन था। गुप्तकाल में "जाति" का स्थान "राग" ने ले लिया था। "संगीत रत्नाकर" प्राचीन ग्रथ में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का विस्तृत वर्णन है। रागों को समझने के लिये लोचन कवि का "राग तरंगिणी" ग्रंथ भी प्राचीन है उससे विदित होता है कि राग अनेकों की संख्या में होते थे। परन्तु वर्तमान में अधिकतर छह राग और तीस रागनियों का ही सामान्यतः वर्णन मिलता रहता है। रागनियां रागों की वधुएँ मानी जाती हैं। नारद के 'पंचम सार संहिता' में सर्वप्रथम रागिनी स्त्री रूप में प्रयुक्त हुआ है। क्षेमकरण ने 16वी शती मे छह राग उनकी तीस स्त्रियों और तदनन्तर उनके राग पुत्रो को भी रागमाला में समाविष्ट किया है। मुगलकाल मे राग रागनियों मे कई परिवर्तन हुये—कई नये राग बन गये। अलाउद्दीन (1295-1316) के दर्बार में अमीर खुसरो प्रसिद्ध संगीतज्ञ था। सितार अमीर खुसरो का का ही आविष्कार बतलाया जाता है जो वीणा के आधार पर बनाई गई। ग्वालियर के महाराज मानसिंह तोमर ने ध्रुवपद गायकी को बहुत प्रोत्साहित किया। अकबर के दर्बार में कितने ही गायक थे। जिनमें तानसेन और बैजू बावरा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। तानसेन ने कई रागो में परिवर्तन किये और कुछ रागो में "मियाँ" लगा होता है उस ही के आविष्कार हैं जैसे "मिया की टोडी", "मिया की मल्हार" आदि। तानसेन ने रबाब वाद्य का आविष्कार किया। अकबर के समय मे ही स्वामी हरिदास भी प्रसिद्ध गायक हुये। तानसेन इनके शिष्य थे। हरिदास ध्रुवपद गाकर भगवान कृष्ण को सुनाते थे। इसी काल में मीरा, सूर, तुलसी भी हुये। जिन्होने अपने भजनों और कृतियों से भारतीय साहित्य में चार चांद लगा दिये। जहांगीर के समय में दामोदर मिश्र ने "संगीत दर्पण" नामक ग्रन्थ की रचना की।

शाहजहां के समय में संगीतज्ञ जगन्नाथ को कविराज की उपाधि मिली। शाहजहां ने जगन्नाथ और दीरंग खां को उनके तोल के बराबर पुरस्कार रूप में रुपया दिया। जनार्दन भट्ट को उस समय 'संगीतराज' की उपाधि मिली। भाव भट्ट नामक संगीतज्ञ भी इस काल में हुआ। शाहजहां की मृत्यु के पश्चात् भावभट्ट बीकानेर में म. अनूपसिंह के दर्बार में आ गया और उसने "अनूप संगीत रत्नाकर", "अनूपविलास" नामक ग्रंथ लिखे। जयपुर के म. प्रतापसिंह ने संगीतज्ञों का एक सम्मेलन किया। देवर्षि भट्ट द्वारकानाथ ने "राग चन्द्रिका" का प्रणयन किया। भट्ट बृजपाल ने 'संगीत सार' की रचना की।

कवि राधाकृष्ण ने "राग रत्नाकर" नामक ग्रन्थ तैयार किया। म. प्रतापसिंह के समय में जयपुर में गुनीजन खाने की स्थापना हो चुकी थी। अली भगवान और सदारग उनके समय के प्रसिद्ध स्वरकार थे। अक्बर के प्रसिद्ध दर्बारी गायक तानसेन के वंशज अमृतसेन, नियामत सेन तथा लालसेन जयपुर के दर्बारी गायक वादक थे जो संगीत की रस धारा चन्द्रमहल परिसर में स्थित राजराजेश्वरजी के मंदिर के प्रांगण मे प्रवाहित किया करते थे। गुणीजन खाने मे दिल्ली, ग्वालियर, रामपुर, लखनऊ, अलवर, बलिया नगरों से श्रेष्ठ गायक वादक नर्तकों को बुलवाया जाकर उन्हे सम्मानित किया गया। मांजी खां, सांवल खां, हयात खां, सलाबत खां, अहमद अली, अली हुसैन, निसार हुसैन, वजीर खां, मुसलमान परिवार के गवैये उच्च कोटि के थे। अहमद खा और कायम हुसैन जैसे सितार वादक और करीम खां जैसे ख्याल गायक जयपुर की ही देन थी। सैनियों का खानदान, तानसेन वश के उत्तराधिकारी, खण्डारियो का खान्दान ध्रुवदप गायकी के लिये प्रसिद्ध था। प्रतिष्ठित बन्दे अली खा बीकानेर के दामाद उदयपुर के जकीरुद्दीन खां से उदयपुरियों का खानदान प्रसिद्ध हुग्रा। हान्नूका परिवार के लोग मंदिरों में गायन करते थे।

म. रामसिंह द्वि. के संरक्षण में "संगीत रत्नाकर और "राग कल्पद्रुम" प्रामाणिक संगीत ग्रन्थो की रचना की गई। पं. मधुसूदन सरस्वती ने शास्त्रीय राग-रागनियों का एक खरडा तैयार किया जिसका नाम राग रागनी संग्रह था। रामसिंह के समय में वंशीधर भट्ट श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। राजगुरू हरिवल्लभाचार्य संगीत के प्रकांड विद्वान् थे। टप्पा के आविष्कारकर्ता "सोरी मिया" के पोते अली हुसैन खां रामसिंह के दर्बार के चोटी के गायक थे। फूलजी भट्ट मन्नूजी, सिद्धजी के नाम स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक की पीढ़ी के गायकों में प्रसिद्ध थे।

पंडित भात खण्डे आधुनिक युग के बहुत बड़े संगीत शास्त्री हुये हैं जिन्होने "लक्ष्य संगीत" नामक ग्रन्थ की रचना की और "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति ग्रन्थ" के माध्यम से संगीत शास्त्र के सिद्धान्तों का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। भात खण्डे ने संगीत शास्त्र की अथक सेवा की है।

वाद्य—वाद्य और सगीत का आपस में साहचर्य होता है। वाद्य के बिना संगीत अधूरा होता है। वाद्यों मे रुद्रवीणा बहुत प्राचीन है। इसका बजाना भी

कठिन होता है। सितार अमीर खुसरो द्वारा बनाया गया जो आज भी प्रचलित है। तम्बूरे में चार तार होते हैं और इकतारे में एक। बांसुरी, शंख, तुरही, नफीरी, प्राचीन वाद्य हैं। सरंगी, तास, दिलरुबा भी प्राचीन की ही गणना में आते हैं। सरंगी बहुत मधुर वाद्य होता है। तन्त्री वाद्य रबाव और सरोद भी बजाने में कठिन होते हैं। सुरसिंगार भी रबाब के ही समान होता है। अलगोजा बजाने में ग्रामीण या चरवाहे बहुत कुशल होते है। सिंगा हिरन के सींग का होता है और मीर तांबे का। पूंगी सपेरो द्वारा बजाई जाती है। मृदग, ढोल, ढप, पखावज, नक्कारा, मांदल, तबला ताल के वाद्य होते हैं। बाकिया, कामायचा, करणा, मशक, मोरचंग, सुरनई, नड़ मुरला लोक वाद्यों की परिगणना में आते हैं।

लोकगीत—राजस्थान लोक गीतों की दृष्टि से समृद्ध प्रदेश है। लोकगीत बिना प्रशिक्षण अथवा अभ्यास के सहज कण्ठ से निकली अभिव्यक्ति है जिसमें जन साधारण का उल्लास, प्रेम, करुणा, दुख की व्यंजना प्रतिबिम्बत होती है। लोक गीतों की स्वर लहरी राजस्थान में पग पग पर प्रवाहित होती रहती है। गांवों में खेत जोतते समय, पशु चराते हुए कृषकों या ग्रामीणों को तो गाते हुये सुना ही जा सकता है पर गृहणियों को भी चक्की पीसते हुये, पनघट से पानी लाते हुये, पुत्र जन्मोत्सव पर, विवाह के समय, प्रिय सबंधियों के आगमन पर, त्योहारों के समय सहज रूप से अकेले या सामुहिक रूप से गाते हुये सुना जा सकता है। प्राचीन काल में वीर पुरुषों के युद्ध स्थल पर चले जाने पर विरहिणी अथवा प्रोषित पतिका तरुणियों के विरह गीत वृक्षों, पौधों, पशु-पक्षियों के प्रतीक रूप में प्रस्फुटित होते रहते थे। मेंहदी, पीपली, बबूल, मोरिया, सुवटिया, कुरंजा के गीत सामान्यतः उपरोक्त प्रसंग में आज भी प्रचलित है। पति-पत्नी भाई-बहन, ननद-भौजाई, सास-ससुर के संयुक्त परिवारों के संवेदनपूर्ण मधुर गीत भी उपयुक्त अवसरों पर घर-घर गाये जाते हैं। देवी-देवताओं तथा लोक प्रतिष्ठित वीरो डूंगजी जुझारजी, तेजाजी, रामदेवजी, सती जी, पाबूजी और गोगाजी आदि के गीत गृहिणियों की धार्मिक आस्थाओं की तुष्टि करने में सहायक होते हैं। "रात्रि जागरण" के अवसरों पर गांवों में सारी-सारी रात जागकर पुरुष भी गाने में महिलाओं का सहयोग देते दिखाई देते हैं। लोकगीत विशिष्ट गायन पद्धति में ही गाये जाते हैं जो परम्परा से प्रचलित होते हैं।

संगीत और चित्रकला—संगीत और कविता के मिश्रित स्वरूप से राग-माला की व्युत्पत्ति हुई और जो कुछ श्रवण गोचर था चित्रकारों ने उसका मूर्त रूप चित्रों में प्रस्तुत किया। सातवीं शती में माण्डू के संस्कृत कवि अमरू ने शतक की रचना की जिसमें नायिका भेद का विश्लेषण किया गया। राग-रागनियों में भी नायिका भेद का समावेश किया गया है। अमरू शतक पर अनेक चित्र बने। (प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय बम्बई, संग्रह)

राजस्थान के कलाकारों ने राग-रागनी विषय पर अनेकों चित्र बनाकर इस विषय को इतना लोकप्रिय बना दिया कि न केवल शासक वर्ग और पूंजीपतियों की रुचि का यह विषय बन गया बल्कि घर-घर में राग-रागनियों के चित्र सजाये जाते थे तथा उन्हें जुजदानो (वस्त्रों) में भी रखने का रिवाज हो गया था ताकि समय-समय पर उन्हें देखकर उनसे ज्ञान प्राप्त किया जा सके कि किस राग का क्या स्वरूप होता है। बूंदी शैली के चुनार में निर्मित 1591 ई. के राग-रागनी के चित्र अत्यन्त प्राचीन माने गये हैं। इस ही प्रकार भैरवी रागनी का चित्र (विक्टोरिया एलबर्ट म्यूजियम, लन्दन) दीपक राग 1620 ई. (भारत कला भवन संग्रह) चावण्ड सिरीज अपभ्रंश शैली 1605 ई. (कला भवन संग्रह वाराणसी, विक्टोरिया म्यूजियम लन्दन, गोपीकृष्ण कानोडिया संग्रह, पटना), पाली शैली सिरीज 1630 ई. (कु. संग्राम सिंह, जयपुर संग्रह), बूंदी शैली सिरीज 1680 (अलवर संग्रहालय) बूंदी शैली सिरीज (सरस्वती भवन, उदयपुर संग्रह इस संग्रह में 240 रागनी के चित्र उपलब्ध हैं सम्भवतः इतने चित्र अन्य किसी सिरीज में देखने को उपलब्ध नहीं हुये)। आमेर शैली रागनी सिरीज 1709 ई. (कांकरोली संग्रह) मेवाड़ शैली रागनी सिरीज 1650 ई. (राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली, संग्रह) मारवाड शैली रागनी सिरीज 1630 ई. (विक्टोरिया एलबर्ट म्यूजियम संग्रह) इन सब संग्रह चित्रो द्वारा विदित होता है कि राजस्थान के कलाकारो ने राग-रागनियों के चित्र बनाने में कितना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मुगल युग से लेकर अठारहवीं शती तक राजस्थान मे विभिन्न शैलियों में सहस्त्रों चित्र बने। उनमें हजारों विदेशी संग्रहों में पहुंच गये हजारो, लोगों की अज्ञानता से, नष्ट हो चुके। राग-रागनियो के स्वरूप वर्णन से उनकी वेश भूषा उनके रंग विधान, शरीर रचना, उनके हाथों के प्रतीक चिह्न, उनके संयोग-वियोग, मान-मिलन, पृष्ठ भूमि-अग्र भूमि के प्राकृतिक चित्रण स्थापत्य आदि का पता चलता है। राग-रागनियो के चित्रों के ऊपर एक पट्टी पर उनका स्वरूप वर्णन भी उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं सम्पूर्ण सचित्र पुस्तकें उपलब्ध होती हैं जिनमें रागनियों के वर्णन सुनहरी या रूपहरी खुशखता में लिखे मिलते हैं। परन्तु मुलेखक अलग होता था और चित्रकार अलग। राग-रागनियो के चित्रो की भारी मात्रा में उपलब्धि से विदित होता है कि कलाकार संगीत की भी जानकारी रखते थे। कारण है राज दरबारों या रईसों के यहा कलाकार और संगीतज्ञ गुणीजन खानों में साथ-साथ काम करते थे। एक कुशल चित्रकार के बनाये चित्रों के खाकों से उनके शिष्य भी वैसे ही चित्र बना लिया करते थे। इस कारण भी एक ही तरह के चित्र कई बार उपलब्ध हो जाते हैं।

अब तो शास्त्रीय संगीत अथवा लोक संगीत दोनों ही की स्थिति, सुगम संगीत, गजल, सिनेमा संगीत, पश्चिमी संगीत के कारण, शोचनीय सी हो गई है। शास्त्रीय संगीत की साधना की ओर जाने को सहजतया कोई तैयार नहीं होता। आधुनिक जीवन की व्यस्तता और पश्चिमी जीवन पद्धति के अनुकरण के कारण लोक संगीत भी उठता चला जा रहा है, परन्तु साथ ही आकाशवाणी, दूरदर्शन तथा अन्य संगीत समारोहों के कारण किसी न किसी रूप मे संगीत की अनेकानेक विधाओं को प्रोत्साहन मिलता रहता है। □